प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी

मुद्रक—
अच्युत-मुद्रणालय,
काशी

प्राक्कथन

श्रीहरि:

औत्पत्तिकी शक्तिरशेषवस्तुप्रकाशने कार्यवशेन यस्या: ।
विज्ञायते विश्वविवर्तहेतोर्नमामि तां वाचमचिन्त्यशक्तिम् ।।
यदीयसम्पर्कमवाप्य केवलं वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तय: ।
जगत्सु ते तारितशिष्यपङ्क्तयो जयन्ति देवेश्वरपादरेणव: ।।

इस संसारमें प्राणिमात्रकी प्रवृत्तियोंका मुख्य उद्देश्य समस्त दुःखोंकी निवृत्ति और परम सुखकी प्राप्ति ही है। इसीलिए जीव सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। मनुष्य चाहता है मैं सदा सुखी रहूँ, कभी भी दुःख न पाऊँ। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वह अथक प्रयत्न करता है। स्त्री, पुत्र, धन आदि की प्राप्तिके लिए भी प्रयत्न इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए किया जाता है। मन्दबुद्धि पुरुष केवल तात्कालिक सुखकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसी कारण वे आपातरम्य विषयोंमें मुग्ध होकर उनकी प्राप्तिके लिए अनेक कष्ट उठाते हैं, अनेकानेक कर्म करते हैं। शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही प्राणी ऊँच, नीच शरीरोंको ग्रहण करते रहते हैं—

नद्यां कीटा इवावर्तात् आवर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ।।

जैसे नदीके आवर्तमें पड़े हुए कीट विवश होकर एक आवर्तसे दूसरे आवर्तमें चले जाते हैं, कभी भी सुख नहीं पाते वैसे ही अविद्यावशवर्ती जीव एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भ्रमण करते हुए संसारमें कभी भी सुख नहीं पाते। क्योंकि सुख-प्राप्तिकी कामनासे किये गए शुभाशुभ कर्मोंसे प्रेरित हुआ यह जीव प्रारब्धानुसार जिन जिन योनियोंको धारण करता है, उन सभी योनियोंमें प्रिय-वियोग और अप्रिय-समागमसे उत्पन्न

होनेवाले शोक और मोहकी आगमें प्राणी सदा झुलसता रहता है, सुख और शान्तिका लेश भी वहाँ उसे नहीं मिलता ।

संसारमें लौकिक कारणोंमें समानता होनेपर भी कार्यमें बड़ा भेद (वैचित्र्य) देखा जाता है । एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुए तथा समानरूपसे पालित-पोषित बालकोंमें भिन्नता देखी जाती है । कोई बुद्धिमान्, कोई मूर्ख, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनवान्, कोई निर्धन एवं कोई स्वस्थ, कोई रोगी देखनेमें आते हैं । सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर इस वैचित्र्यका लौकिक कारण हमें कुछ भी नहीं प्रतीत होता । इसलिए व्याकरणके महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिमुनिने कहा है—

'समानमीहमानानामधीयानां केचिदर्थैर्युज्यन्ते
नापरे, तत्र किं कर्तुं शक्यतेऽस्माभिः ।'

अर्थात् समान परिश्रमसे अध्ययन करनेवाले छात्रोंमें कोई-कोई पण्डित होते हैं, कोई-कोई नहीं होते, इसमें हम क्या करें, क्योंकि हम समान रूपसे पढ़ानेसे अधिक और क्या कर सकते हैं ?

इसीसे मानना पड़ता है कि इस विचित्रताका कारण कर्म है । उसीके अनुसार जीव ऊँच, नीच योनियोंमें प्राप्त होकर सुख, दुःख आदि विभिन्न-विभिन्न भोगों का अनुभव करता है । विषयी पुरुषको संसारमें सुखके अनुभवकी बेलामें जो वस्तु सुखरूप प्रतीत होती है, सूक्ष्म विचार करनेपर वास्तवमें वह भी दुःखरूप ही है । कारण सुख-भोगके समय सुखके साधनोंमें राग और दुःखके कारणोंमें द्वेष चित्तमें बना ही रहता है । इन्द्रियोंकी विषयोंमें जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसी आसक्तिको राग कहते हैं और अभीष्ट पदार्थमें बाधा डालनेवाले व्यक्तिके प्रति चित्तमें जो प्रतिकूल वृत्ति होती है, उसको द्वेष कहते हैं । राग-द्वेष के कारण ही सुखके अनुभवसे सुखके संस्कार और दुःखके अनुभवसे दुःखके संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे कि जन्म-परम्परा बनी रहती है । क्योंकि इन राग-द्वेष और उनके संस्कारोंसे ही प्रेरित होकर प्राणी पुण्यपापात्मक अनेकानेक प्रवृत्तियोंमें फँसकर शोक, मोह, आदिसे जन्म, जरा, मरणरूप दुःख परम्पराओंके

गर्तमें पड़ते हैं। इसीसे विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें सांसारिक सुख भी परिणाममें नीरस होनेके कारण दुःखरूप ही है। इसीलिए योगसूत्रमें कहा गया है—
'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (यो०सू०२-१५)

अविवेकी पुरुष अविद्यापरवश होकर दुःखके कारणभूत देहादिमें अहन्ता और ममता करता हुआ त्रिविध दुःखोंसे सन्तप्त होकर जन्म-मरण-परम्परारूप संसारमें भटकता रहता है। अतः संसार महान् दुःखरूप है। और वास्तवमें यदि देखा जाय तो जीवको उस सच्चे सुख और सच्ची शान्तिकी ओर ले जानेमें कारण भी यह दुःख ही है।क्योंकि—

इस संसारमें यदि दुःख न होता और दुःखके रहनेपर भी यदि वह हेय न होता, अर्थात् यदि वह सुखके समान प्रिय होता, अथवा प्रिय न होनेपर भी यदि उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती यानी दुःख यदि नित्य होता अथवा अनित्य होनेपर भी यदि उसकी निवृत्तिका कोई उपाय ही नहीं होता, या शास्त्रसे प्रतिपाद्य उपाय उसका निवर्तक न होता, अथवा शास्त्रप्रतिपाद्य उपायसे अन्य कोई सरल उपाय उसका निवर्तक होता, तो फिर कोई भी पुरुष सद्गुरुकी शरणमें जाकर वेदान्त वाक्योंका श्रवण (अद्वैत ब्रह्ममें तात्पर्य-निर्णयरूप श्रवण) नहीं करता, चित्तकी शुद्धिके लिए नित्यनैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान एवं चित्तकी एकाग्रताके लिए भगवान्‌की उपासना भी नहीं करता। परन्तु ऐसी बात नहीं है। दुःख हैं और वे एक-दो ही नहीं, अनन्त हैं। वे सब तीन विभागोंमें विभक्त हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारके हैं। ज्वर, शूल, शिरोवेदना आदि रोग शारीरिक दुःख और काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक दुःख हैं। ये सब शरीरके भीतरी निमित्तोंसे उत्पन्न होनेके कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं। सर्प, वृश्चिक, व्याघ्र, चौर आदि प्राणियोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले दुःख आधिभौतिक कहलाते हैं एवं अग्नि, जल, विजली आदिसे जो अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि दुःख उत्पन्न होते हैं, वे आधिदैविक कहे जाते हैं।

इन दुःखोंसे मुक्त होनेके लिए ही पुरुष वेदान्त शास्त्रका श्रवण,

मनन और निदिध्यासन करता है। क्योंकि शास्त्र-प्रतिपादित उपायसे (अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा होनेवाले आत्मसाक्षात्कारसे) अन्य कोई भी उपाय इन दुःखोंका निवर्तक नहीं है। इसलिए प्रत्येक पुरुषको शास्त्रकी जिज्ञासा होती है। क्योंकि समस्त दुःखोंकी निवृत्ति और परम-आनन्दकी प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है।

यहाँपर कुछ लोग, अर्थ और कामको ही पुरुषार्थ माननेवाले, कहते हैं कि आप्त वैद्योंसे उपदिष्ट औषधोपचार एवं सुमनोहर वनिता, गन्ध, माल्य, नृत्य, गीत आदि विषयोंके सेवनसे जब आध्यात्मिक (शारीरिक और मानसिक) दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है तथा नीतिशास्त्रके ज्ञान और निर्बाध प्रदेशमें निवास करनेसे आधिभौतिक दुःखोंकी भी निवृत्ति हो सकती है एवं मणि, मन्त्र, औषधि-सेवन आदि उपायोंसे आधिदैविक दुःख भी निवृत्त हो ही सकता है। इस प्रकार लौकिक सरल उपायोंसे ही जब समस्त दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है, तब फिर अनेक जन्मोंके आयाससे साध्य होनेवाले शास्त्रप्रतिपादित आत्म-साक्षात्काररूप उपायमें कौन पुरुष प्रवृत्त होगा ?

इसका उत्तर यह है कि आयुर्वेदोक्त औषधोपचार आदिसे ज्वर आदि शारीरिक रोगोंकी एकदम निवृत्ति हो जांय और अवश्य निवृत्ति हो जाय यह बात नहीं है। क्योंकि वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट औषधिका उपचार करने-पर भी वे सर्वथा नहीं निवृत्त होते, एकबार निवृत्त हो जानेपर भी पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार मनोज्ञ वनिता आदिके सेवनसे काम, आदिकी निवृत्ति नहीं होती; प्रत्युत उसकी और अधिक अभिवृद्धि होती है। इस रीतिसे तो शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे छुटकारा पाना बिलकुल ही असंभव है। यही बात आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंके विषयमें भी समझ लेनी चाहिए। सारांश यह है कि लौकिक उपायोंसे दुःख नहीं निवृत्त हो सकते। यदि कहीं निवृत्त हो भी जाते हैं तो फिर उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए इन दुःखोंकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्तिके लिए अध्यात्मशास्त्रकी जिज्ञासा अवश्य करनी चाहिए।

इसपर मीमांसक लोगोंका कहना है कि—“लौकिक उपायोंसे दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति भले ही न हो, परन्तु अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि वैदिक कर्म-कलापसे स्वर्गकी प्राप्ति होनेपर अवश्य ही दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है। तो फिर क्यों अध्यात्मशास्त्रकी जिज्ञासा की जाय? अर्थात् वह व्यर्थ है। क्योंकि उनके (मीमांसकोंके) मतमें धर्म, अर्थ और काम, ये तीन ही पुरुषार्थ हैं। इसलिए वे कहते हैं कि मोक्ष न चतुर्थ पुरुषार्थ है और न आत्मसाक्षात्कार उसका उपाय है। एवं उसका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्त शास्त्र भी कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है किन्तु वह अर्थवाद के समान कर्मकाण्डका ही एक अङ्ग है।”

परन्तु विचार करने पर यह भी मत उचित नहीं प्रतीत होता। कारण यह कोई निश्चय नहीं है कि वैदिक उपायोंसे दुःखकी निवृत्ति हो ही जाय। संभव है कि यागमें अङ्ग-वैकल्य हो जानेसे उसका फल स्वर्ग न मिल सके और उसका फल जो स्वर्ग है, वह नित्य ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि ‘तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।’ (जैसे इस लोकमें कर्मसे जन्य कृषि आदि फल नष्ट हो जाता है, वैसे ही परलोकमें पुण्यसे जन्य स्वर्गफल भी नष्ट हो जाता है।) इत्यादि श्रुतियों और ‘क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति, इत्यादि स्मृतियोंसे प्रतीत होता है कि स्वर्गादि सुख भी अनित्य एवं सातिशय ही है। इसलिए वैदिक उपायोंसे भी लौकिक उपायों (भक्ष्य, भोज्य, पेय, औषधोपचार आदि) के समान ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती है। यहाँ तक कि कर्म और उपासना द्वारा प्राप्त हुए दिव्य लोकोंमें दिव्य-सुखका उपभोग प्राप्त करके भी अद्वैत ब्रह्मरूप स्वाश्रयके साथ सायुज्यकी उत्कृष्ट इच्छा बनी ही रहती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति-प्राकृत नामरूपात्मक प्रपञ्चके अन्तर्गत चाहे जितनी भी उन्नति एवं सुख-सामग्री प्राप्त हो, परन्तु द्वैत एवं दुःखरूप होनेके कारण वह सब अनन्तसुख और शान्तिके सम्पादनमें नहीं समर्थ हो सकती। इसलिए सूक्ष्मतत्त्वके विवेचकोंका कहना है कि

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष तो केवल एक वेदान्तशास्त्रके श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे होनेवाले आत्मसाक्षात्कारसे ही होता है।

इस प्रकार त्रिविध दुःखोंसे सन्तप्त प्राणी जब लौकिक और वैदिक दोनों उपायोंसे उस परम सुख और परम विश्रान्तिको नहीं प्राप्त होता, तब लौकिक एवं वैदिक अनेक विधि साधनोंके अनुष्ठानसे खिन्न हुए उस सच्चे सुख, सच्ची शान्तिके जिज्ञासुको एकमात्र श्रुतिकी ही शरण लेनी पड़ती है। श्रुति, माता-पितासे भी कोटिगुण अधिक जीवका हित चाहनेवाली भगवती श्रुति, पुत्रवत्सला जननीके समान समस्त दुःखोंकी निवृत्ति एवं परम सुखकी प्राप्तिका जो एकमात्र उपाय बतलाती है, उसको कहते हैं—आत्मदर्शन, आत्मज्ञान अर्थात् आत्माका साक्षात्कार।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'
'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'
'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।' इत्यादि,

इसी श्रुति द्वारा निर्दिष्ट अतिगहन आत्म-दर्शनका स्पष्ट रीतिसे प्रतिपादन करनेके लिए गौतम आदि तत्त्वदर्शी मुनियोंने तत्तत् अधिकारियोंकी रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार न्याय, वैशेषिक आदि छः दर्शनोंकी रचना की है। इसीलिए आत्म-दर्शनके प्रतिपादक उन वेदान्तादि दर्शनोंको भी लक्षणा द्वारा 'दर्शन' कहा जाता है। जैसे कि उपनिषद् शब्दका मुख्य अर्थ है—अध्यात्मविद्या। तत्प्रतिपादक ग्रन्थोंमें भी लक्षणावृत्तिके द्वारा उपनिषद् शब्दका प्रयोग होता है। अथवा वेदान्तादि निबन्धोंमें दर्शन शब्दका प्रयोग करणत्वेन—साधनत्वेन—किया गया है। इसलिए 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा आत्माका दर्शन (साक्षात्कार) हो, वह वेदान्त आदि निबन्ध भी दर्शन शब्दसे कहा जाता है। क्योंकि श्रुतिने आत्म-दर्शनके लिए जिन श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप तीन साधनोंका निर्देश किया है, उनमेंसे द्वितीय साधन तर्कात्मक मननमें अपेक्षित उपपत्तिके प्रतिपादक वेदान्तादि निबन्ध भी परम्परासे आत्म-साक्षा-

त्कार करनेमें साधन हैं। इसलिए वेदान्त आदि निबन्धोंको भी दर्शन कहते हैं।

दर्शन अर्थात् आस्तिक दर्शन ६ हैं। न्याय-दर्शन, वैशेषिक-दर्शन, साङ्ख्यदर्शन, योगदर्शन, मीमांसा-दर्शन और वेदान्त-दर्शन। इन दर्शनोंके रचयिता गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास, ये सभी महर्षि तत्त्वदर्शी थे। वेदके सिद्धान्तके सूक्ष्म-रहस्यको ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा सब ठीक ठीक जानते थे। इसी कारण इन प्रत्येक महर्षिके परमार्थ तत्त्व जाननेमें लेशमात्र भी विप्रत्तिपति (संशय) नहीं है। किन्तु परमार्थ तत्त्वको लेकर व्यवहारकी रक्षा तथा लोकसंग्रह हो नहीं सकता है। इसलिए महर्षियोंने अधिकारियोंके भेदसे भिन्न-भिन्न कक्षाओंके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रस्थानोंका (अलग-अलग दर्शनोंका) निर्माण करके उन में परम गम्भीर आत्मतत्त्वका विवेचन करते हुए तत् तत् सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है। प्रायः सभी दार्शनिकोंके मतमें मोक्ष नित्य-सुख या दुःख-निवृत्ति रूप है। सांख्य, योग, वेदान्त आदि शास्त्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारोंको पुरुषार्थ मानते हैं, अर्थात् इनके मतमें चार पुरुषार्थ हैं। इनमें से लौकिक सुखको काम कहते हैं। वह दो प्रकारका है दिव्य (अर्थात् स्वर्गसुख) और अदिव्य (भूलोक सुख), वह दोनों ही प्रकारका सुख उपेय (साध्य) है। अर्थ और काम उसके साधन हैं। इनमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। वही मनुष्य जीवनका मुख्य उद्देश्य है। इसीलिए योगवासिष्ठमें कहा गया है—

बुद्ध्वैव पौरुषफलं पुरुषत्वमेतद्
आत्मप्रयत्नपरतैव सदैव कार्या।
नेया ततः सफलतां परमामथासौ
सच्छास्त्रसाधुजनपण्डितसेवनेन॥ (यो० वा०, मु० प्र०)

मोक्षकी सिद्धिके लिए धर्म भी उपादेय है। धर्म की सिद्धिके लिए अर्थ भी उपादेय है। एवं 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इस नियमके अनुसार शरीरका साधन होनेसे काम भी उपादेय ही है। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥ (१-२-६-१०)

(धर्म अपवर्ग—मोक्ष—के लिए कर्तव्य है, न कि धनके लिए। धन-सञ्चय धर्मके लिए कर्तव्य है, न कि विषय-सुखके लिए। विषय—सेवन जीवनके लिए ही है, इन्द्रियोंकी परितृप्तिके लिए नहीं, अर्थात् उतना ही विषय-सेवन किया जाय जितनेसे अपने जीवनका निर्वाह हो जाय और जीवन भी तत्त्वकी जिज्ञासा—आत्मसाक्षात्कार—के लिए है, नश्वर सांसारिक सुखके सञ्चयके लिए नहीं अर्थात् जीवित रहनेका फल यह नहीं है कि अनेक प्रकारके कर्मोंके चक्करमें पड़कर क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें ही समस्त आयु बरबाद की जाय? क्योंकि जीवनका परम लाभ तो वास्तविक तत्वको जानना ही है।) यही बात समस्त दर्शनोंमें भिन्न-भिन्न रीतिसे प्रतिपादित की गई है।

सब दर्शनों में प्रधान दर्शन है—वेदान्त दर्शन। वही सम्यग्दर्शन, वैदिक-दर्शन, आत्मदर्शन इत्यादि शब्दोंसे कहा गया है। इससे अन्य सभी आस्तिक दर्शनोंका तात्पर्य इसीमें है अर्थात् अन्य सभी दर्शन वेदान्त-द्वारा निर्दिष्ट अद्वैत-तत्त्वकी प्रतिपत्तिमें ही सहायक हैं। इसलिए सच्चे सुख, सच्ची शान्तिके जिज्ञासुको उसका ठीक ठीक बोध करानेमें वेदान्त-शास्त्र ही समर्थ होता है। क्योंकि वह आत्म-विषयक समस्त विप्रतिपत्तियोंका निराकरण करके, जिज्ञासुके हृदयसे अज्ञानको निवृत्त करके, सत्य अपरोक्ष आत्मतत्त्व प्रकाशित कर देता है। आत्माका अपरोक्षज्ञान होनेपर ही यह जीव अनादि जन्म-मरण की परम्परारूप संसार-चक्रसे मुक्त होता है।

यद्यपि जीव नित्य है, वास्तवमें इसके जन्म-मरण नहीं होते। तथापि वह अपने कर्मोंके अनुसार नवीन शरीरोंका ग्रहण और प्राचीन शरीरोंका त्याग करता रहता है। इस शरीरके ग्रहण और त्यागको ही जन्म तथा मरण

कहते हैं। वास्तवमें जीवका जन्म-मरण नहीं होता। क्योंकि वास्तवमें वह ईश्वर ही है। उपाधिके द्वारा भिन्नसा प्रतीत होता है।

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥

(जैसे एक ही ज्योतिरूप सूर्य भिन्न-भिन्न जलोंमें प्रतिविम्बित होकर अनेकरूप हो जाता है, वैसे ही प्रकाशस्वरूप एक ही परमात्मा अविद्या और स्थूल सूक्ष्म शरीरोंमें प्रतिविम्बित होकर अनेक (जीव) स्वरूप हो जाता है।)

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(जैसे आकाशमें एकरूपसे विद्यमान चन्द्रमा जलमें (प्रतिविम्बित होकर) अनेकरूपसे दीखता है। वैसे ही एक ही परमात्मा तत्तत् शरीरोंमें प्रतिविम्बित होकर अनेकरूप दीखता है।)

इससे प्रतीत होता है कि जीव परमेश्वरका प्रतिबिम्ब है। परमेश्वर एक है। अविद्या और स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंके भेदसे उसके प्रतिबिम्ब अनेक हैं। 'मम मुखं दर्पणे दृश्यते' 'आकाशस्थः सूर्यो जले भासते' इत्यादि अनुभवसे भी प्रतीत होता है कि भेदके भासनेपर भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब वास्तवमें एक ही है। अतः ब्रह्म और जीव भी एक ही है, भेद-प्रतीति भ्रमसे होती है।

जैसे परमार्थ ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप निर्विशेष है, वैसे ही उसके साथ ऐक्य होनेसे जीव भी सत्, चित्, आनन्दरूप निर्विशेष ही है। तथापि जैसे माया (विद्या) उपाधिसे ब्रह्म सर्वज्ञता, अन्तर्यामिता, भूतानुकम्पिता आदि कल्याण गुण-गणोंका भाजन होता है, वैसे ही अविद्या उपाधिके वश जीव अल्पज्ञ, दुःखित्व आदि अशुभ गुणोंसे युक्त हो जाता है—

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा॥

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्' (श्वे० १-१२)

(भोक्ता—जीव, भोग्य—शब्दादि विषय और प्रेरिता—परमात्मा, ये तीनों विचार-दृष्टिसे ब्रह्म ही हैं ।)

इन वचनोंके अनुसार सम्पूर्ण द्वैत जब मिथ्या ही भासता है, परमार्थमें है ही नहीं । तब जीवमें कर्तृत्व भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि भी मिथ्या ही है, अध्यस्त है, अर्थात् अज्ञानसे कल्पित है, परमार्थमें नहीं है । जीवका वास्तविक स्वरूप सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं। इस प्रकारके ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे अर्थात् स्वाश्रयभूत परिपूर्ण परब्रह्मके साथ जीवके अभेदज्ञानसे ही सायुज्यमुक्तिरूप कैवल्य होता है । यही जीवकी कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थकी सिद्धि है । इस आत्मज्ञानके जाननेमें मनुष्यमात्र ही नहीं, किन्तु इन्द्रादि देवता भी अधिकारी हैं । इसलिए इन्द्रादि देवता लोगोंने भी आत्मतत्त्वकी जिज्ञासासे ब्रह्माके पास जाकर ब्रह्मचर्यपूर्वक तत्त्वज्ञानका सम्पादन किया । अतएव परम शान्ति और विश्रान्तिके अभिलाषी पुरुषको आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिए गुरुपरम्परासे अध्यात्मशास्त्रका (वेदान्तशास्त्रका) अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है । अस्तु,

इस आत्मतत्त्वका विशद विवेचन यद्यपि समस्त वेदों, उपनिषदोंमें पर्याप्त है । इस कारण [वेदोंके अनादि होनेसे ही] यह अद्वैतवाद यद्यपि संसारमें अनादि कालसे ही विद्यमान है, तथापि युगके ह्रासके अनुसार मनुष्यकी ज्ञानशक्तिका ह्रास होता देखकर अज्ञानके वशवर्ती जीवोंके कल्याणकी कामनासे द्वैपायन भगवान् वेदव्यासजीने चार अध्यायोंमें उत्तर-मीमांसा-(ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्तदर्शन)- की रचना करके उसमें समस्त वेदोंके अतिगूढ़ रहस्य आत्मतत्वके स्वरूपका स्पष्ट निरूपण कर दिया है । तथापि कालचक्रके प्रभावसे जब इस कलिकालमें सद्धर्मका, वैदिक धर्मका, प्रचार और अनुष्ठान लुप्त-सा हो गया था और आत्मतत्त्वके स्वरूपका ज्ञान भी प्रायः कुछ इने-गिने उच्चकोटिके महापुरुषोंमें ही सीमित रह गया था; तब वैदिक धर्मके प्रभावके मन्द पड़ जानेसे जन-समाज प्रायः श्रुतिसम्मत विशुद्ध अद्वैत ब्रह्मवादको भूलकर अवैदिक-

भ्रान्त सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित धर्मोंको ग्रहण करने लग गया था, तब उस अज्ञानप्रधान समयमें साक्षात् परमात्माकी ज्ञानशक्तिने ही श्रीशङ्कराचार्य रूपमें प्रकट होकर देशव्यापक अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करके भारतके एक कोनेसे दूसरे कोने तक वैदिक धर्म-कर्मका एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया।

भगवान् शंकराचार्यने प्रस्थानत्रय (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता) पर प्रसन्न गम्भीर भाष्यकी रचना करके दृढ़तापूर्वक अवैदिक दार्शनिकोंके युक्तिजालका खण्डन करके शास्त्र तथा युक्तिके बलसे वेदानुमत, निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उन्होंने प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक भेदसे, सत्ताभेदकी कल्पना करके समस्त दर्शनोंके सिद्धान्तोंका सामञ्जस्य करके सकलसिद्धांतोंके समन्वयका मार्ग भी खोल दिया। केवल इतना ही नहीं, अद्वैत सिद्धांतका अपरोक्षतया साक्षात्कार करके जगत्में उसके प्रचारके लिए तत्-तत् देश और कालके अनुसार मठादिस्थापनके द्वारा जगत्में ज्ञानोपदेशका भी स्थायी प्रबन्ध किया। क्योंकि यह अद्वैत-सिद्धांत ही सारे संसारके लिए परमशान्ति प्रदान करनेवाला है। अस्तु,

आचार्यशङ्करकी लोकोत्तर विद्वत्ता और प्रतिभापर मुग्ध होकर बड़े-बड़े विद्वान् उनके शिष्य बन गए। उनमें चार शिष्य उनके प्रधान शिष्योंमें हुए। सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य त्रोटकाचार्य, और हस्तामलकाचार्य।

प्रस्तुत पुस्तकके रचयिता श्रीसुरेश्वराचार्य अपने गुरुके समान ही अलौकिक पुरुष थे। इनकी रचनाओं से इनकी असाधारण विद्वत्ता तथा असामान्य प्रतिभाका पर्याप्त परिचय मिलता है। सुरेश्वराचार्यके गृहस्थाश्रमका नाम 'मण्डनमिश्र' था। मंडनमिश्र ही संन्यास ग्रहणके बाद सुरेश्वराचार्य कहलाए, इस सत्य विषयमें भ्रान्त इतिहास लिखनेवाले कुछ पाश्चात्य पण्डितों एवं उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वानोंको भी 'मण्डनमिश्र भिन्न थे और सुरेश्वराचार्य भिन्न थे' ऐसी भ्रान्त धारणा आजकल हो गई है। वास्तवमें यह निर्मूल है। इस विषयमें हमारे माननीय, मीमांसा एवं वेदान्तशास्त्रके मार्मिक विद्वान् पंडित श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्रीजी महोदय (प्रोफेसर विश्वविद्यालय, काशी) ने बहुत कुछ अन्वेषण करके बहुत सामग्री प्राप्त की

है। उसीका कुछ सारांश इसमें हम दे रहे हैं। आशा है कि इसके अवलोकनसे पाठकोंका समाधान हो जायगा। अस्तु

मण्डनमिश्र जगत्प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्टके शिष्य थे तथा मीमांसा एवं कर्मकाण्डके अलौकिक पण्डित थे। गृहस्थाश्रममें उन्होंने 'विधिविवेक' आदि मीमांसाके कई ग्रन्थ लिखे। वेदान्तके विषयमें प्रसिद्ध 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ भी उन्होंने अपने पूर्वाश्रममें ही लिखा था। बादमें भगवान् शङ्कराचार्यके साथ शास्त्रार्थमें पराजित हो जानेपर, आचार्य शङ्करके सम्पर्कमें आकर उन्होंने अपने विचारोंको परिवर्तित कर दिया। उन्होंने आचार्यके विशेष सम्पर्कमें रहकर अद्वैत वेदान्तके विषयमें अलौकिक अद्भुत पाण्डित्य सम्पादन किया। वेदान्तके विषयमें उनकी ऐसी अलौकिक प्रतिभासे मुग्ध होकर आचार्यने ब्रह्मसूत्रपर अपने शारीरक भाष्यमें वृत्ति लिखनेके लिए इनको ही नितान्त उपयुक्त समझकर इनसे उस कार्यके लिए कहा। परन्तु आचार्यकी शिष्यमण्डलीने इस बातका विरोध किया। क्योंकि ये गृहस्थाश्रममें एक कट्टर मीमांसक थे। उस अवस्थामें इनका आग्रह कर्मकाण्डपर बहुत ही अधिक था। इसीसे आचार्यकी शिष्यमंडलीको ऐसी शङ्का हो गई थी कि कर्मकांडके संस्कारोंकी वासनासे कहीं आचार्यके भाष्यको भी ये कर्मपरक ही न सिद्ध कर दें? इसीकारण शिष्यमण्डलीने उक्त बातका विरोध किया। यद्यपि आचार्य उनको वैसा नहीं समझते थे, वे सुरेश्वरके आशयको भलीभाँति जानते थे, तथापि शिष्योंके सन्तोषार्थ आचार्यने फिर उन्हें वेदान्तविषयपर स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा वार्तिक लिखनेका आदेश दिया। गुरुकी आज्ञा मानकर सुरेश्वराचार्यजीने शारीरक भाष्यपर वृत्ति नहीं लिखी, किन्तु उपनिषद्भाष्यपर वार्तिक तथा यह ग्रन्थ लिखकर अद्वैत वेदान्तको पुष्ट तथा लोकप्रिय बनाया। तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक, बृहदारण्यभाष्यवार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमरणमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि प्रभृति ग्रन्थ इनकी विख्यात रचनाएँ हैं।

इन विशाल वार्तिकोंकी रचनाके अनन्तर उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को लिखकर इसको आचार्यके सम्मुख उपस्थित किया। वेदान्तके

इस अनुपम प्रकरण ग्रन्थको देखकर भगवान् शङ्कराचार्य उनकी विद्वत्तापर बहुत प्रसन्न और मुग्ध हुए। क्योंकि इस ग्रन्थमें उन्होंने आत्मविषयक समस्त विप्रतिपत्तियोंका युक्तिपूर्वक निराकरण करते हुए इसमें वेदान्त-दर्शनके मार्मिक रहस्यको गागरमें सागर जैसा भर दिया है। जिससे केवल एक इस पुस्तकका अनुशीलन करनेसे ही जिज्ञासुकी जिज्ञासा निवृत्त हो सकती है, अर्थात् प्रस्तुत पुस्तकका मनन करनेसे फिर आत्मज्ञानके विषयमें कोई भी संशय अवशिष्ट नहीं रह सकता। ग्रन्थके आरम्भमें ही ग्रन्थकारने जीवोंके समस्त दुखों का स्पष्ट निदान करके उनकी निवृत्तिका उपाय बतलाते हुए सांसारिक जीवोंको अखण्ड सुख और शान्तिका सन्देश दे दिया है। वे कहते हैं—

'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैः सर्वप्राणिभिः सर्वप्रकारस्यापि दुःखस्य स्वरसत एव जिहासितत्वात् तन्निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एव।

दुःखस्य च देहोपादानैकहेतुत्वात्, देहस्य च पूर्वोपचितधर्माऽधर्ममूलत्वादनुच्छित्तिः। तयोश्च विहितप्रतिषिद्धकर्ममूलत्वादनिवृत्तिः, कर्मणश्च रागद्वेषास्पदत्वाद्रागद्वेषयोश्च शोभनाशोभनाध्यासनिबन्धनत्वादध्यासस्य चाऽविचारितसिद्धवस्तुनिमित्तत्वाद् द्वैतस्य च शुक्तिकारजतवत्सर्वस्यापि स्वतःसिद्धाऽद्वितीयात्मानवबोधमात्रोपादानत्वादव्यावृत्तिरतः सर्वानर्थहेतुरात्माऽनवबोध एव।'

(ब्रह्मासे लेकर छोटेसे-छोटे तृणपर्यन्त अर्थात् कीट पतङ्गपर्यन्त सब प्राणियोंको सब प्रकारके दुःखोंको छोड़नेकी इच्छा स्वाभाविक ही रहती है, इसलिए उनको दूर करनेके निमित्त (प्राणियोंकी) चेष्टा भी स्वयमेव होती हैं।

देहधारण करना ही दुःखका एकमात्र कारण है और देह पूर्वजन्ममें सञ्चित धर्माऽधर्मसे उत्पन्न होता है, अतएव उनके उच्छेद हुए बिना, धर्म और अधर्मके निवृत्त हुए बिना, देहका उच्छेद नहीं हो सकता है। और जबतक विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मोंका आचरण होता रहता है, तब तक धर्माऽधर्मकी भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। कर्म राग-द्वेषमूलक हैं। राग-द्वेष विषयोंमें सुन्दरता और असुन्दरताबुद्धिरूप मिथ्याभ्रमसे उत्पन्न होते हैं। मिथ्याभ्रान्ति जिसकी सत्ता विचार न करने से ही है ऐसे द्वैत-वस्तुके कारण हुआ करती है और समस्त द्वैतका उपादान कारण, शुक्तिमें

रजतभ्रमके समान, स्वयम्प्रकाश अद्वितीय आत्माका अज्ञान ही है। इसलिए परम्परासे सब अनर्थोंका मूल कारण आत्माका अज्ञान ही है। अतएव उसकी निवृत्ति हुए बिना पूर्वोक्त दुःखादिसे छुटकारा नहीं हो सकता है।)

*'सुखस्य चाऽनागमापायिनोऽपरतन्त्रस्यात्मस्वभावत्वात्तस्याऽनवबोधःपिधानमतस्तस्योच्छित्ताविशेषपुरुषार्थपरिसमाप्तिः। अज्ञाननिवृत्तेश्च सम्यग्ज्ञानस्वरूपलाभमात्रहेतुत्वात्तदुपादानम् अशेषाऽनर्थहेत्वात्माऽनवबोधविषयस्य चाऽनागमि*प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयत्वाद्वेदान्तागमवाक्यादेव सम्यग्ज्ञानम्। अतोऽशेषवेदान्तसारसंग्रहप्रकरणमिदमारभ्यते।'*

(पूर्वोक्त अज्ञान केवल अनर्थोंका ही कारण है ऐसा नहीं, किन्तु उत्पत्ति और नाशसे रहित तथा कभी पराधीन न होनेवाला जो निर्विशेष आत्मस्वरूप सुख है, उसका भी वह आवरण करनेवाला है। इसलिए उसके नाश होनेसे ही सम्पूर्ण पुरुषार्थकी परिसमाप्ति अर्थात् कृतकृत्यता की प्राप्ति होती है। सम्यग्ज्ञानरूप आत्मसाक्षात्कार तत्त्वज्ञान) ही अज्ञानके नाशका एकमात्र कारण है। अतएव उसके अधिकारीको अन्य उपायोंका परित्याग करके उसका (तत्त्वज्ञानका) सम्पादन करना चाहिए। समस्त अनर्थोंके उत्पादक आत्मस्वरूपाज्ञानके विषयका—आत्माका—साक्षात्कार अशास्त्रीय प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों द्वारा न हो सकने के कारण केवल एक वेदान्तशास्त्रके वाक्योंसे ही होता है। इसलिए समस्त वेदान्तके सारका सङ्ग्रह करके यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।) अस्तु,

प्रस्तुत पुस्तक ग्रन्थकारका सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें कई उद्धरण 'उपदेश-साहस्री' से उद्धृत किए हैं। इसमें ३६ कारिकाएँ बृहदारण्यवार्तिककी हैं। इसमें ग्रन्थकारने मुक्तिका साधन ज्ञान है, या कर्म है, अथवा दोनोंका समुच्चय है, इस विषयका युक्तियुक्त समाधान करते हुए तीन प्रकारके समुच्चयवादका खण्डन किया है। और चार प्रकारसे अन्वयव्यतिरेक बतलाकर बड़े ही सरल और स्पष्ट रीतिसे जीव और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करते हुए अद्वैत सिद्धान्तको निःसन्दिग्ध सिद्ध किया है। और प्रस्तुत पुस्तकका नाम भी अन्वर्थक रक्खा गया है—इसका अर्थ है—'निर्गतं

र्म यस्मात् सः निष्कर्मा, निष्क्रमणो भावः नैष्कर्म्यम्, तस्य सिद्धिः निश्चयः, अर्थात् सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ब्रह्मात्मावबोध । अथवा—*निष्कर्म ब्रह्म, तद्विषयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तद्रूपां सिद्धिम्,* अर्थात् विचारजनित ब्रह्मविषयक ज्ञानकी सिद्धि । अस्तु,

वेदान्तके प्रसिद्ध अनुपम ग्रन्थ 'संक्षेपशारीरक' के रचयिता श्री सर्वज्ञात्म मुनि इन्हीं सुरेश्वराचार्यजीके शिष्य थे । उन्होंने अपने ग्रन्थके प्रारंभमें ही आचार्य सुरेश्वरके चरणकमलोंकी वन्दना की है । प्रकृत ग्रन्थ तथा संक्षेपशारीरकके अनुशीलनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वज्ञात्म मुनिको प्रस्तुत ग्रन्थपर बहुत अधिक प्रेम रहा होगा और इसमें प्रतिपादित विषयको ही उन्होंने सुमनोहर पद्योंमें बद्ध करके 'संक्षेप-शारीरक' ग्रन्थ लिखा। क्योंकि संक्षेप-शारीरकमें कई अंश इसीका छायानुवाद है ।

इस ग्रन्थपर मूलके अभिप्रायको स्पष्ट करनेवाली म० म० पं० श्री ज्ञानोत्तम मिश्र विरचित संस्कृत टीका है । प्रस्तुत अनुवाद उसीके आधार-पर किया है । इसके अतिरिक्त श्रीज्ञानामृत विरचित 'विद्यासुरभि' नामकी दूसरी टीका तथा श्रीचित्सुखाचार्य विरचित 'भावतत्त्वप्रकाशिका' नामकी एक तीसरी टीका भी इसपर है ।

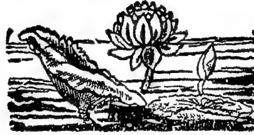
प्रस्तुत ग्रन्थका यथार्थ अनुवाद करना तो गुरुपरम्परासे वेदान्त शास्त्रका ज्ञान सम्पादन किये हुए पुरुष धौरेयोंका ही काम था; मुझ सदृश अल्पज्ञ और अल्पमतिके लिए तो यह एक उपहासकी बात है । तथापि निष्कारणकरुण भगवान् शङ्कर एवं प्रातः स्मरणीय सद्गुरुकी परम अनुकम्पासे प्रेरित होकर स्वान्तःसुखाय प्रवृत्त होनेपर जैसा भी हो सका है, 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' के अनुसार वह सब उन्हींकी सेवामें समर्पित है । श्रीरस्तु ।

गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, काशी
भाद्र कृष्ण १३ सं० २००७

विनीत—
प्रेमवल्लभ त्रिपाठी

श्रीः

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत् ।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥



मण्डनमिश्र ही सुरेश्वराचार्य हैं

मण्डनमिश्रजीके बारेमें पाश्चात्य और भारतीय विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् लोग भाषाविज्ञानके आधारसे कुछ इतिहासके बलसे कुछ ऐसे एक सिद्धान्तको मानकर उसीका समर्थन करनेके लिए कटिबद्ध हो जाते हैं, यह बात सर्वानुभवसिद्ध है। ये लोग मण्डनमिश्र और सुरेश्वराचार्यजी, इन दोनोंको एक नहीं मानते, किन्तु अलग-अलग मानते हैं। इसका पहला व्याख्याता मैसूर यूनीवर्सीटीके दर्शनका प्रधानाध्यापक है। उसने मंडनमिश्र और सुरेश्वराचार्यजी के ग्रन्थोंको आपाततः देखकर कुछ भाषाके भेदसे, कुछ प्रतिपाद्य विषयके भेदसे मण्डन और सुरेश्वर, इन दोनोंको भिन्न-भिन्न सिद्ध किया है। उसमें पहला कारण यह है कि "भगवान् शङ्कराचार्य अद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। उन्होंने जीवन्मुक्तिको सिद्ध किया है। यह बात शाङ्करभाष्यादिमें प्रसिद्ध है। यदि मण्डनमिश्र उनके शिष्य होते तो वे उस सिद्धान्तका खण्डन कैसे करते? मण्डनमिश्रजीने ब्रह्मसिद्धिमें जीवन्मुक्तिका खंडन किया है। दूसरा कारण यह है कि अविद्याका आश्रय और विषय ब्रह्म है, यह शङ्कराचार्यजीका सिद्धान्त है और ब्रह्मसिद्धिमें मण्डनमिश्रजीने अविद्याका विषय ब्रह्मको मानकर आश्रय जीवको माना है। इसी सिद्धान्तको भामतीकार श्रीवाचस्पतिजीने भी अपनाया है। यह बात वेदान्तियोंमें प्रसिद्ध है:—

'वाचस्पतिर्मण्डनपृष्ठसेवी।' इत्यादि

इसी प्रकार कई श्रुतियोंके व्याख्यानमें मण्डन और सुरेश्वराचार्यजीमें अन्तर दीख पड़ता है।" इत्यादि इत्यादि आभास हेतुओंको देखकर अंग्रेजी भाषामें इस विषयको लिखा है। जिससे संस्कृतके विद्वान् लोग इसे न जानें, इसके ऊपर कुछ न कह सकें।

इसीको आधारकरके महामहोपाध्याय पं० कुप्पुस्वामी शास्त्रीजीने भी ब्रह्मसिद्धिकी भूमिकामें यथाशक्ति उसी मतका समर्थन किया है। इसी

बातको 'लकीरके फकीर' इस कहावतके अनुसार प्रायः सभी अंग्रेजीके शिक्षित मानते आ रहे हैं। पंडित बलदेव उपाध्यायजी एम्० ए०, साहित्याचार्य (प्रोफेसर बनारस हिन्दू-यूनीवर्सीटी) महोदयने भी इसी आधारको सामने रख कर अपनी 'शङ्कराचार्य' नामक पुस्तकमें मण्डनमिश्र और सुरेश्वराचार्यजीको भिन्न-भिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। यह सब संस्कृतभाषाका विशिष्ट अध्ययन न होना, किसी सम्प्रदाय-परम्परासे अध्ययन न करना तथा केवल अपनी बुद्धिसे ग्रन्थ लगा लेनेका ही फल है।

यदि किसी देशके या किसी व्यक्तिके विषयमें हमें इतिहास लिखना है तो उस देशकी, उस समाजकी, स्थितिको देख अथवा सुनकर ही उस बातको सिद्ध करना चाहिए, अपने मनसे नहीं। इस बातको पाश्चात्य और भारतीय सभी विद्वान् लोग मानते हैं। ऋषि-महर्षियोंकी जन्मभूमि समस्त भूमण्डलके आदर्श भारतवर्षमें जबसे मण्डनमिश्र हो गए हैं, तबसे आज तकका संस्कृत विद्वत्समाज, यहाँकी जनता, भगवान् शङ्कराचार्य-जीसे चलाया मठाम्नाय एवं तत्-तत् समयमें रचे गए विद्वानोंके शङ्करदिग्वि-जयादि काव्य, इस बातको निर्विवाद पुष्ट करते हैं कि मण्डनमिश्र ही शङ्कराचार्यजीसे शास्त्रार्थ करके पराजित होनेके बाद उनके शिष्य बन कर सुरेश्वराचार्य नामसे प्रसिद्ध हुए। अस्तु,

पाश्चात्य विद्वानोंने भारतीय सभ्यता और संस्कृतिपर यहाँकी जनताकी अनास्था और अरुचि होनेके लिए ऐसा ऐसा उत्पात मचा रखा है। उन लोगोंने संस्कृतके विद्वानोंको एक प्रकारसे अनपढ़ सिद्ध करनेके लिए प्रयत्न किए हैं और कर रहे हैं। परन्तु यह अनुचित है। संस्कृत विद्वानोंको आधुनिक वैज्ञानिक जगत्में प्रक्रियात्मक ज्ञान न होनेपर भी आजकलके विज्ञान-शास्त्रियों और दार्शनिकोंसे वे कई गुने बढ़े-चढ़े हैं, यह बात सर्वविदित है?

जैसे आज विज्ञान-जगत्में श्रीजगदीशवसुको बड़ा मानते हैं। उन्होंने सारे जीवनको लगा कर स्थावरोंमें भी प्राणशक्ति है, इस बातको अमे-

रिकामें किसी विज्ञानशास्त्रियोंके अधिवेशनमें इन्जक्शन द्वारा सिद्ध करके दिखलाया है। तबसे वैदेशिक विद्वान् भी स्थावरोंमें भी प्राणशक्ति है, यह मानने लगे हैं। परन्तु हमारे यहां तो मनुजीने, पहलेसे ही, जब कि आजका विज्ञान गर्भमें भी नहीं आया था, लिख रखा है कि—

'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।'

इस विषयमें अधिक कहना पिष्टपेषण है। प्रकृत विषयमें हमें कहना यह है कि हमने जहां तक इनके ग्रन्थोंका अध्ययन और मनन किया है, इससे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त कारण सब हेत्वाभास हैं। एक विद्वान् बाल्यावस्थामें किसी विषयको लेकर ग्रन्थ लिखता है। पीछे पठन-पाठन और विचारसे ज्ञानगरिमा होती है, तब उस समय पहले जो कुछ लिखा है, वह उसीको गलत मालूम पड़ता है। 'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः' ऐसा प्राचीनोंका कथन है।

जैसे मीमांसामें शाबर भाष्यपर दो व्याख्याता बड़े बड़े हो गए हैं। कुमारिलभट्ट और प्रभाकरमिश्र। प्रभाकरमिश्र बड़े यौक्तिक और प्रतिभाशाली थे, इस विषयको कहना उनके ग्रन्थोंका परिशीलन करनेवालोंके सामने भगवान् सूर्यको दीपदर्शन कराना है। उन्होंने शाबर भाष्यके ऊपर शब्द-सामर्थ्य तथा अर्थ-सामर्थ्यको लेकर दो प्रकारका व्याख्यान किया है। उन दोनोंका नाम है—(१) विवरण और (२) निबन्ध। जो विवरण आजकल बृहती नामसे प्रसिद्ध है। इस अभिप्रायको श्रीरामानुजाचार्यजी प्रभाकर मतानुसारी 'तन्त्ररहस्य' नामक ग्रन्थमें लिखे हैं।

'आलोच्य शब्दबलमर्थबलं श्रुतीनां
टीकाद्वयं व्यरचयद् बृहतीं च लध्वीम्।' इत्यादि।

इन ग्रन्थोंमें बहुत सिद्धन्तोंमें अन्तर है। इसका विवेचन हम दूसरे समयमें करेंगे। इससे यह नहीं सिद्‌ध होता है कि प्रभाकर मिश्र दो थे। ज्ञानपरिपाकके भेदसे प्रतिपाद्य विषयोंमें भेद होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। अप्पय्य दीक्षितजीको सभी जानते हैं। उन्होंने 'नयनमुखमालिका, इत्यादि तीन ग्रन्थ लिखे हैं। उनमेंसे एकमें अद्वैत सिद्‌धान्तका समर्थन,

दूसरेमें विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायका समर्थन और तीसरेमें मध्वमतका समर्थन किया है। बादमें फिर इनका खंडन भी किया है। क्या इससे अप्पय्य-दीक्षित अनेक सिद्ध होते हैं? 'व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा' यह कहावत है। अतः यह सब कहनेका अभिप्राय यह है कि अवस्थाके भेदसे मनुष्यका ज्ञान विकसित होता है और सङ्गके द्वारा भी सिद्धान्तमें परिवर्तन होता है। यद्यपि मण्डनमिश्रजी गृहस्थाश्रममें कर्मकाण्डके समर्थक और ज्ञानकाण्डके कट्टर विरोधी थे। परन्तु जब शङ्कराचार्यजीसे शास्त्रार्थ हुआ तभीसे शङ्कराचार्यजीके सिद्धान्तोंसे प्रभावित होकर वे उनके शिष्य बने, उनके अनुयायी और उनके सिद्धान्तोंके समर्थक हो गए।

यह भी देखा जाता है कि हर एक विद्वान् किसी आचार्यके मतका अनुसरण करते हुए अपने अभिमत पक्षका भी ग्रन्थमें सन्निवेश कर देता है? तावता वह अन्य सिद्धान्तका हो गया, यह नहीं कह सकते! इसलिए उपर्युक्त प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि मिथिलावासी-मण्डनमिश्र ही संन्यास ग्रहण करनेके अनन्तर सुरेश्वराचार्य कहलाने लगे और श्रृंगेरी-मठमें पहले आचार्य हुए। उनकी समाधि भी श्रृङ्गेरी मठमें अब तक विद्यमान है।

जैसे भारतवासी सब भारतके रहनेवाले नहीं, किन्तु बाहरसे आए हुए हैं, ऐसा वैदेशिक (पाश्चात्य) विद्वान् एवं तदनुयायी यहांके कुछ विद्वान् लिखते और कहते हैं। तथापि हम लोग बाहरके नहीं, यहींके हैं, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

अतः मण्डनमिश्र ही सुरेश्वराचार्य हैं, दूसरे नहीं। इस बातको जनताके सामने रखते हुए इस विषयका मैं उपसंहार करता हूँ। इसके विषयमें हमारे पास बहुतसी सामग्री है। किसी अवसर पर निबन्धके रूपमें उसको प्रकाशित करेंगे।

—वैदान्तमीमांसाचार्य श्री पं० सुब्रह्मण्यशास्त्री
(प्रो० सं० त्रि०, काशी हिन्दूयूनीवर्सीटी)

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैः सर्वप्राणिभिः सर्वप्रकारस्यापि दुःखस्य स्वरसत एव जिहासितत्वात् तन्निवृत्त्यर्था[1] प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एव ।

ब्रह्मासे लेकर छोटेसे-छोटे तृणपर्यन्त अर्थात कीटपतङ्ग पर्यन्त सब प्राणियोंमें सब प्रकारके दुःखोंको छोड़नेकी इच्छा स्वभावतः ही रहती है, इसलिए उनको दूर करनेके निमित्त (प्राणियोंकी) चेष्टा भी स्वयमेव होती है ।

दुःखस्य च देहोपादानैकहेतुत्वात्, देहस्य च पूर्वोपचितधर्माऽधर्ममूलत्वादनुच्छित्तिः । तयोश्च विहितप्रतिषिद्धकर्ममूलत्वादनिवृत्तिः, कर्मणश्च रागद्वेषास्पदत्वाद्रागद्वेषयोश्च शोभनाशोभनाध्यासनिबन्धनत्वादध्यासस्य चाऽविचारितसिद्धद्वैतवस्तुनिमित्तत्वात्, द्वैतस्य च शुक्तिकारजतादिवत्सर्वस्यापि स्वतःसिद्धाद्वितीयात्मा[2]नवबोधमात्रोपादानत्वादव्यावृत्तिरतः सर्वानर्थहेतुरात्माऽनवबोध एव ।

देह धारण करना ही दुःखका एकमात्र कारण है और देह पूर्वजन्ममें सञ्चित धर्माधर्मसे उत्पन्न होता है, अतएव उनका उच्छेद हुए बिना, धर्म और अधर्मके निवृत्त हुए बिना, देहका उच्छेद नहीं हो सकता । और जबतक विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मोंका आचरण होता रहता है, तबतक धर्म और अधर्मकी भी निवृत्ति नहीं हो सकती। कर्म राग-द्वेषमूलक हैं । राग-द्वेष विषयोंमें सुन्दरता और असुन्दरता बुद्धिरूप मिथ्या-भ्रमसे उत्पन्न होते हैं । मिथ्याभ्रान्ति जिसकी सत्ता विचार न करनेसे ही है ऐसे द्वैतवस्तुके कारण हुआ करती है और समस्त द्वैतका उपादान कारण, शुक्तिमें रजतभ्रमके समान, स्वयम्प्रकाश अद्वितीय आत्माका अज्ञान ही है । इसलिए परम्परासे सब अनर्थोंका

---

१ यहाँ ग्रन्थकारने 'तन्निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एव' इससे यह सूचित किया है कि समस्त दुःखोंकी निवृत्ति चाहनेवाला पुरुष इसका अधिकारी है । 'दुःखस्य' इत्यादिसे 'अशेष पुरुषार्थपरिसमाप्तिः' इत्यन्त ग्रन्थके द्वारा यह सूचित किया है कि— दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही इसका प्रयोजन है और वह आत्मज्ञानसे व्यतिरिक्त अन्य साधनोंसे असाध्य है ।

२ यहाँ "आत्मनः विषयभूतस्य, आत्मनि आश्रयभूते" ऐसा अर्थ करना चाहिए । क्योंकि अविद्याका आश्रय और विषय शुद्ध चैतन्य ही है, जैसा कि संक्षेप-शारीरकमें कहा गया है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥

और इस अध्यायके ७वें श्लोकमें भी यह बात कही गई है ।

मूल कारण आत्माका अज्ञान ही है। अतएव उसकी निवृत्ति हुए बिना पूर्वोक्त दुःखादिसे छुटकारा नहीं हो सकता।

सुखस्य चाऽनागमापायिनोऽपरतन्त्रस्यात्मस्वभावत्वात्तस्याऽनवबोधः पि[1]धानमतस्तस्योच्छित्तावशेषपुरुषार्थपरिसमाप्तिः । अज्ञाननिवृत्तेश्च सम्यग्ज्ञानस्वरूपलाभमात्रहेतुत्वात्तदुपादानम् अशेषाऽनर्थहेत्वात्माऽनवबोधविषयस्य चाऽनागमिकप्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयत्वाद्वेदान्तागमवाक्यादेव सम्यग्ज्ञानम् । अतोऽशेषवेदान्तसारसंग्रह[2]प्रकरणमिदमारभ्यते।

पूर्वोक्त अज्ञान केवल अनर्थोंका ही कारण है, ऐसा ही नहीं, किन्तु उत्पत्ति और नाशसे रहित तथा कभी पराधीन न होनेवाला जो आत्मस्वरूप सुख है, उसका भी वह आवरण करदेनेवाला है। इसलिए उसका नाश होनेसे ही सम्पूर्ण पुरुषार्थकी परिसमाप्ति अर्थात् कृतकृत्यता प्राप्त होती है। सम्यग् ज्ञानरूप आत्मसाक्षात्कार (तत्त्वज्ञान) ही अज्ञानके नाशका एकमात्र कारण है। अतएव उसके अधिकारीको अन्य उपायोंका परित्याग करके उसका (तत्त्वज्ञानका) सम्पादन करना चाहिए। समस्त अनर्थोंके उत्पादक आत्मस्वरूपाज्ञानके विषयका–आत्माका–साक्षात्कार अशास्त्रीय प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों द्वारा न हो सकनेके कारण केवल एक वेदान्तशास्त्रके वाक्योंसे ही होता है। एतदर्थ समस्त वेदान्तके सारका संग्रह करके यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

तत्राऽभिलषितार्थप्रचयाय प्रकरणार्थसंसूत्रणाय[3] चायमाद्यः श्लोकः-

उसमें अभिलषित अर्थ—(शिष्यपरम्परा द्वारा शिष्ट पुरुषोंमें) प्रकरणके प्रचार एवं प्रकरणार्थका—विषय और प्रयोजनका—संक्षेपसे सूचन करनेके लिए इष्टदेवता नमस्काररूप मङ्गलाचरण इस प्रथम श्लोकसे करते हैं—

खाऽनिलाऽग्न्यब्धरित्र्यन्तं स्रक्फणीवोद्गतं यतः ।
ध्वान्तच्छिदे[4] नमस्तस्मै हरये बुद्धिसाक्षिणे[5] ॥ १ ॥

---

१ तस्य सुखात्मनोऽनवबोधः पिधानमावरणम् सुखाप्रतीत्या विपरीतप्रतीतिहेतुः ।

२ शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥
अर्थात्—जो शास्त्रके एकदेशसे सम्बन्धित हो और शास्त्रके कार्यान्तरमें स्थित हो, ऐसे ग्रन्थभेदको विद्वान् लोग प्रकरण कहते हैं।

३ 'प्रकरणार्थसंसूचनाय' ऐसा भी पाठ है।

४ 'ध्वान्तच्छिदे' इसके द्वारा अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रयोजन कहा गया है।

५ 'हरये बुद्धिसाक्षिणे' इस सामानाधिकरण्यसे प्रत्यगात्मा (जीव) और परमात्मा (ब्रह्म) का एकत्वरूप विषय द्योतित किया गया है।

मालामें सर्पकी भाँति जिसमें आकाश; वायु, तेज, जल और पृथिवी आदिरूप जगत्का प्रतिभास (अज्ञानसे) हुआ है तथा जो अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करनेवाला और बुद्धिका साक्षी है, उस परमात्माको नमस्कार है ॥ १ ॥

स्वसम्प्रदायस्य चोदितप्रमाणपूर्वकत्वज्ञापनाय विशिष्टगुणसङ्कीर्तनपूर्विका गुरोर्नमस्कारस्क्रिया ।

सद्विद्योपदेशरूप अपने सम्प्रदायको पूर्वोक्त शास्त्रमूलक बतलानेके लिए आचार्य (भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके) उत्कृष्टगुणोंका कीर्तन करते हुए उनको प्रणाम करते हैं—

अलब्ध्वाऽतिशयं यस्माद् व्यावृत्तास्तमबादयः ।
गरीयसे नमस्तस्मा अविद्याग्रन्थिभेदिने ॥ २ ॥

जिस गुरुवरके अतिरिक्त कहीं भी उत्कर्षताको न पाकर तमप् आदि उत्कर्षवाचक शब्द (अन्यत्र कहीं स्थान न मिलनेसे) केवल उन्हीं में रहते हैं । और जो शिष्योंकी अविद्या-ग्रन्थिके भेदन करनेमें अतीव समर्थ एवं सबसे श्रेष्ठ हैं उन श्रीगुरुवर (भगवान् श्रीशङ्कराचार्य) को हमारा प्रणाम है ।

नमस्कारनिमित्तस्वाशयाविष्करणार्थः[1] —

जिस अभिप्रायसे गुरुको प्रणाम किया, उसे प्रकाशित करनेके लिए अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

वेदान्तोदरसंगूढं संसारोत्सारि वस्तुगम् ।
ज्ञानं[2] व्याकृतमप्यन्यैर्वक्ष्ये गुर्वनुशिक्षया ॥ ३ ॥

जो (ज्ञान) वेदान्तशास्त्रोंके अन्दर अत्यन्त गूढ़ है, जिसको स्थूलबुद्धिवाले लोग नहीं जान सकते और जो अधिष्ठानभूत ब्रह्मको विषय करके सम्पूर्ण संसारका बाधकर देता है, उस विज्ञानका वर्णन यद्यपि अन्य विद्वानोंने अनेक प्रकारसे किया है, तथापि श्रीगुरुकी आज्ञाका पालन करनेके लिए मैं उसका स्पष्ट रूपसे वर्णन करता हूँ ॥ ३ ॥

किंविषयं प्रकरणमिति चेत्तदुपन्यासः—

इस प्रकरणमें किस विषयका प्रतिपादन किया जायगा ? इस बातका वर्णन अग्रिम श्लोकसे करते हैं—

---

१ 'स्वाशयाविष्करणार्थम्' भी पाठ है ।

२ ज्ञानम्—ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्—प्रकरणम् 'ज्ञानं वक्ष्ये' इत्यत्र वाक्यप्रयोगानुकूलव्यापारो वचधातोरर्थः । जनकत्वं द्वितीयार्थः । ततोऽन्वयः ।

यत्सिद्धा[1] विदमः सिद्धिर्यदसिद्धौ न किञ्चन ।
प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्य[2] याथात्म्यं वक्ष्यते स्फुटम् ॥ ४ ॥

जिस चैतन्यरूप ब्रह्मके अन्तःकरण आदिमें प्रतिबिम्बित होनेसे इदम् पदार्थ—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि जड़ जगत्की सिद्धि (स्फुरण) होती है और जिसके प्रतिबिम्बित न होनेसे सिद्धि नहीं होती, उस ब्रह्मतत्त्वका यथार्थ स्वरूप इस ग्रन्थमें स्पष्ट रीतिसे वर्णन किया जाता है ॥ ४ ॥

विवक्षितप्रकरणार्थप्ररोचनायानुक्तदुरुक्ताप्रामाण्यकारणशङ्काव्युदासेन स्वगुरोः प्रामाण्यवर्णनम्—

इस प्रकरणमें प्रतिपाद्य विषयपर मुमुक्षुओंकी श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिए "यह विषय गुरुजीने नहीं कहा, या कहा भी हो तो यह सुन्दर कथन नहीं है, इसलिए अप्रमाण है।" इत्यादि शङ्काओंको दूर करते हुए उक्त विषयमें अपने गुरुका प्रामाण्य वर्णन करते हैं—

गुरूक्तो वेदराद्धान्तस्तत्र नो वच्म्यशक्तितः ।
सहस्रकिरणव्याप्ते[3] खद्योतः किं प्रकाशयेत् ॥ ५ ॥

श्रीगुरुने जिस वेदसिद्धान्तका वर्णन किया है, उस पर मैं कह ही क्या सकता हूँ, क्योंकि उनके प्रतिपादित विषयोंमें कुछ अधिक कहनेकी शक्ति मुझमें है नहीं। भला भगवान् सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे जिस देशको प्रकाशित कर रहे हों, वहाँ बेचारा खद्योत किसको प्रकाशित कर सकता है ॥ ५ ॥

गुरुणैव वेदार्थस्य परिसमापितत्वात्प्रकरणोक्तौ ख्यात्याद्यप्रामाण्यकारणाशङ्केति चेत्तद्व्युदासार्थमुपन्यासः—

जब गुरुजीने ही समस्त वेदार्थका व्याख्यान भलीभाँति कर दिया है, तब इस नूतन ग्रन्थकी रचनासे आपका अभिप्राय ज्ञात होता है लोगोंमें प्रतिष्ठा अथवा धन आदि प्राप्त करनेका है, यदि आप इसी इच्छासे ग्रन्थका निर्माण करते हैं तो यह अप्रामाणिक है, इत्यादि शङ्काओंका निरास करनेके लिए अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

न ख्यातिलाभपूजार्थं ग्रन्थोऽस्माभिरुदीर्यते ।
स्वबोधपरिशुद्ध्यर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु ॥ ६ ॥

---

१ यस्य सद्रूपस्यात्मनः सिद्धौ सत्तास्फूर्तिरूपेण सत्त्वे घटादेर्दृश्यस्यापि सत्त्वेन व्यवहारः । यदसिद्धौ न किंचन । अध्यस्तस्याधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताऽनङ्गीकारात् ।

२ प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्य = जीवस्य ।

३ सहस्रकिरणव्याप्ते 'आकाशे' इति शेषः ।

कीर्ति, धन या सत्कार प्राप्तिके लिए हम इस ग्रन्थका निर्माण नहीं करते । किन्तु जैसे सुवर्णकार सुवर्णकी परीक्षाके लिए उसे कसौटीपर घिसता है, वैसे ही श्रीगुरु-कृपासे हमें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसमें अभी कुछ भ्रान्तिरूप मलका सम्पर्क तो नहीं है ? इसकी परीक्षाके लिए ब्रह्मवेत्ताओंके सामने अपने ज्ञानको उपस्थित करनेके निमित्त यह प्रयत्न किया जाता है । क्योंकि वे लोग ज्ञानरूप स्वर्णकी परीक्षा करनेमें कसौटीके समान हैं ॥६॥

अनर्थाऽनर्थहेतुपुरुषार्थतद्धेतुप्रकरणार्थसंग्रहज्ञापनायोपन्यासः-

* अनर्थ, अनर्थका कारण, पुरुषार्थ और पुरुषार्थका कारण, इन चार विषयोंका वर्णन इस ग्रन्थमें किया जायगा । इस बातको सूचित करनेके लिए संक्षेपसे उन विषयोंका स्वरूप वर्णन करते हैं--

ऐकात्म्याऽप्रतिपत्तिर्या स्वात्मानुभवसंश्रया ।
साऽविद्या संसृतेर्बीजं [1]तन्नाशो मुक्तिरात्मनः ॥ ७ ॥

'आत्मा एक अद्वितीय है' ऐसा न जानकर 'यह नाना एवं सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे युक्त है' ऐसा विपरीत समझना ही जिसका स्वरूप है और ज्ञानस्वरूप आत्मा ही केवल जिसका आश्रय है, वही अविद्या समस्त संसारकी जननी है उसीका नाश आत्माकी मुक्ति है ॥७॥

पुरुषार्थहेतोरवशिष्टत्वात्तदभिव्याहारः—

पूर्वोक्त चार विषयोंमें तीनका कथन हो चुका अवशिष्ट पुरुषार्थ हेतु—तत्त्वज्ञान—का वर्णन करते हैं—

वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञा[2]नाशुशुक्षणिः ।
[3]दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माऽप्रतिकूलतः ॥ ८ ॥

वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञानरूप अग्नि आत्माके आश्रित अज्ञानको एकदम भस्म कर देता है । परन्तु विरोधी न होनेके कारण कर्म उसका (अज्ञानका) नाश नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

प्रतिज्ञातार्थसंशुद्ध्यर्थं [4]पूर्वपक्षोक्तिः । तत्र ज्ञानमभ्युपगम्य तावदुपन्यासः—

---

* अनर्थ—संसार, अनर्थका कारण—अविद्या, पुरुषार्थ—अविद्याका नाशरूप मोक्ष, पुरुषार्थका कारण—तत्त्वज्ञान ।

१ 'मुक्तिस्तन्नाश आत्मनः' भी पाठ है ।

२ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।

३ दन्दहीति = समूलघातं हन्ति, ऐकान्तिकात्यन्तिकोच्छेदं करोतीति यावत् ।

४ 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः, इस न्यायसे ज्ञान ही मुक्तिका साधन है, कर्म नहीं, इस प्रतिज्ञात विषयकी दृढ़ताके लिए पूर्वपक्ष किया गया है ।

(पूर्वश्लोकमें प्रतिज्ञा की गई कि ज्ञान ही मुक्तिका साधन है, कर्म नहीं)। अब इस प्रतिज्ञात अर्थकी दृढ़ताके लिए पूर्वपक्ष किया जाता है। यहां पर प्रथम कर्मवादी लोग ब्रह्मज्ञानको स्वीकार करके भी मुक्तिप्राप्तिमें उसे अनावश्यक कहते हुए कर्म ही को मुक्तिका साधन सिद्ध करते हैं—

मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वाज्ज्ञानं तत्र करोति किम्।
कथं चेच्छृणु तत्सर्वं प्रणिधाय मनो यथा॥ ९॥

केवल कर्मोंसे ही मोक्ष सिद्ध हो सकता है, तो फिर मोक्षकी प्राप्तिमें ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? यदि अनित्य कर्म मोक्षकी सिद्धि कैसे कर सकता है? ऐसी शङ्का हो तो उस प्रकारको सावधान होकर एकाग्रचित्तसे सुनिए?॥ ९॥

अकुर्वतः क्रियाः काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथा।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म विधिवच्चानुतिष्ठतः[1]॥ १०॥

जो पुरुष काम्य कर्मोंको न करते, निषिद्ध कर्मोंको सर्वथा त्यागते नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है, वह (स्वरूप स्थितिके प्रतिबन्धक सम्पूर्ण कर्मोंका नाश होनेके कारण) स्वस्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको (ज्ञानकी सहायताके बिना ही) प्राप्त होता है।

किमतो भवति?

शङ्का—इस प्रकार काम्य कर्मोंके न करने तथा निषिद्ध कर्मोंका त्याग करनेसे क्या होता है?

काम्यकर्मफलं तस्माद्देवादीमं न ढौकते।
निषिद्धस्य निरस्तत्वान्नारकीं नैत्यधोगतिम्॥ ११॥

उत्तर—काम्य कर्मोंके न करनेसे देवादिभाव और निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे नरक सम्बन्धिनी अधोगति उस पुरुषको नहीं प्राप्त होती॥ ११॥

देहारम्भकयोश्च धर्म्माधर्म्मयोर्ज्ञानिना सह कर्मिणः समानौ चोद्यपरिहारौ।

जिन धर्माऽधर्मोंने वर्तमान देहको उत्पन्न किया है, उनके विषयमें तो ज्ञानवादियोंके साथ कर्मवादियोंका शङ्का-समाधान एक समान ही है। क्योंकि—

वर्तमानमिदं याभ्यां शरीरं सुखदुःखदम्।
आरब्धं पुण्यपापाभ्यां भोगादेव तयोः क्षयः॥ १२॥

---

१ मुक्तिर्भवतीति शेषः।

जिन पुण्य और पापोंने सुख और दुःख देनेवाला यह शरीर उत्पन्न किया है, उनका तो भोगनेसे ही क्षय होता है (ज्ञानवादी भी इसी सिद्धान्तपर आरूढ़ हैं) ॥१२॥

काम्य-प्रतिनिषिद्धकर्मफलत्वात्संसारस्य तन्निरासेनैवाऽशेषाऽनर्थ-निरासस्य सिद्धत्वात् किं नित्यानुष्ठानेनेति चेत्, तन्न; तदकरणाद-प्यानर्थक्यप्रसक्तेः ।

शङ्का—यह संसार काम्य तथा निषिद्ध कर्मोंका ही फल है, अतएव उनकी निवृत्तिसे ही सब अनर्थोंकी निवृत्ति होगी। फिर नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे क्या प्रयोजन है?

उत्तर— ऐसी शङ्का मत कीजिए। क्योंकि नित्यकर्मोंके न करनेसे भी अनर्थका कारण[1] पाप उत्पन्न होता है।

नित्यानुष्ठानतश्चैनं प्रत्यवायो न संस्पृशेत् ।
अनादृत्यात्मविज्ञानमतः कर्माणि संश्रयेत् ॥ १३ ॥

अतएव नित्यकर्मोंका आचरण करनेसे अधिकारी पुरुषको (नित्यकर्मोंके न करनेसे उत्पन्न होनेवाला) पाप नहीं लगता। इसलिए (मोक्षप्राप्तिके लिए) आत्मज्ञानका आदर न करके कर्मोंका ही आश्रय लेना चाहिए ॥ १३ ॥

अभ्युपेत्यैवमुच्यते न तु यथावस्थितात्मवस्तुविषयं ज्ञानमस्ति, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात् ।

यहां तक तो कर्मवादियोंने ब्रह्मज्ञानको [2]स्वीकार करके ही उसको मुक्ति-प्राप्तिमें अनावश्यक सिद्ध किया। अब वे लोग कहते हैं कि 'वास्तवमें स्वतःसिद्ध आत्मवस्तुका ज्ञान कोई चीज़ ही नहीं है, क्योंकि उसकी सिद्धिमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। जैसे कि—

याव[3]त्यश्चेह विद्यन्ते श्रुतयः स्मृतिभिः सह ।
विदधत्युरुयत्नेन कर्माऽतो भूरिसाधनम् ॥ १४ ॥

जितनी श्रुति और स्मृतियाँ हैं वे सभी बड़ी तत्पर होकर कर्मका विधान करती हैं, इसलिए कर्म ही मोक्ष प्राप्तिका पर्याप्त साधन है।

स्यात्प्रमाणासम्भवो भवदपराधादिति चेत्, तन्न; यतः—

वेदान्त वाक्य तो "ज्ञान ही मुक्तिका साधन है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं, परन्तु

---

१ 'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥' (म० स्मृ०)।

२ 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इस श्रुतिके अनुसार।

३ यावन्त्यः, भी पाठ है।

आप उन वाक्योंका तात्पर्य न समझ कर ही ज्ञानमें प्रमाणोंका अभाव बतलाते हो" ऐसी शङ्का यदि कीजिए तो वह ठीक नहीं। क्योंकि—

यत्नतो वीक्षमाणोऽपि विधिं ज्ञानस्य न क्वचित्।
श्रुतौ स्मृतौ वा पश्यामि विश्वासो नाऽन्यतोऽस्ति नः॥१५॥

बड़े प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करनेपर भी श्रुतियों और स्मृतियोंमें [मुक्ति-प्राप्तिके लिए] ज्ञानका विधान हमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। और श्रुति-स्मृतियोंको छोड़कर अन्यत्र तो हम लोगोंको कहीं विश्वास है नहीं।

स्यात्प्रवृत्तिरन्तरेणाऽपि विधिं लोकवदिति चेत्, तन्न; यतः—

यदि ऐसा शङ्का हो कि "जैसे भोजनादि कृत्योंमें शास्त्रीय विधिके बिना रागसे ही, सर्वसाधारणकी प्रवृत्ति होती है। वैसे ही ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति अनुभव-सिद्ध है। तब शास्त्रीय विधिके न होनेपर भी उसमें प्रवृत्ति हो सकती है" तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि [यदि अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष दृष्टफल होता, तब तो यह शङ्का उचित थी, परन्तु वह तो देहपातके अनन्तर होनेवाले कर्मफलके समान अदृष्टरूप है। अतएव शास्त्रविधानके बिना ज्ञान उसका साधन नहीं माना जा सकता।]

अन्तरेण विधिं मोहाद्यः कुर्यात्साम्परायिकम्।
न स्यात्तदुपकाराय भस्मनीव हुतं हविः॥ १६ ॥

शास्त्रविधानके बिना ही मोहवश यदि कोई अदृष्टार्थक—पारलौकिक कर्म करता है, तो उसका वह कृत्य भस्ममें दी हुई आहुतिके समान निरर्थक है॥ १६ ॥

अभ्युपगतप्रामाण्यवेदार्थविज्जैमिन्यनुशासनाच्च ।

पूर्वोक्त मन्तव्य केवल युक्तियोंसे ही सिद्ध होता है, ऐसी बात नहीं, किन्तु सम्पूर्ण आस्तिक लोग जिनको प्रामाणिक मानते हैं और जो सभी वेदार्थ-ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हैं, वह महर्षि जैमिनि भी यही कहते हैं।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमितोऽन्यथा।
इति साटोपमाहोच्चैर्वेदविज्जैमिनिः स्वयम्॥ १७ ॥

"सम्पूर्ण वेद कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं। इसलिए जो वेदभाग इससे विपरीत है, वह निरर्थक है।" इस प्रकार वेदोंके तात्पर्यका जाननेवाले महर्षि जैमिनिजीने भी अपने "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" (मी०सू०१।२।१) इस सूत्रमें बड़े प्रयत्नपूर्वक समस्त वेदको कर्मका ही विधायक माना है॥ १७ ॥

मन्त्रवर्णाच्च ।

वेदके मन्त्रसे भी यही बात सिद्ध होती है।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।"
इति मन्त्रोऽपि निःशेषं कर्मण्यायुरवासृजत् ॥ १८ ॥

"कर्म करता हुआ ही साधक अपनी आयु व्यतीत करनेकी इच्छा करे" इस प्रकार अध्यात्म-प्रकरणमें पठित यह वेदमन्त्र भी सम्पूर्ण आयुको कर्म करनेमें ही नियुक्त करता है ॥ १८ ॥

ज्ञानिनश्च वस्तुनि वाक्यप्रामाण्याभ्युपगमाद् वाक्यस्य च क्रियापदप्रधानत्वात्ततश्चाभिप्रेतज्ञानाभावः—

ज्ञानवादियोंके मतमें भी ब्रह्मरूप सिद्ध वस्तुमें वाक्य ही प्रमाण है और वाक्य क्रियापदके बिना लोकमें अर्थका बोधक नहीं दीख पड़ता। इसलिए वाक्यमें क्रियापदको ही प्रधान मानना चाहिए। यदि वह प्रधान है तो वह क्रियाका ही प्रतिपादक है। इस प्रकार वाक्यका सम्बन्ध क्रियामें न रखकर उससे केवल जो ब्रह्मज्ञान अभिप्रेत है, वह कैसे हो सकता है? क्योंकि

विहृत्य क्रियां नैव संहन्यन्ते पदान्यपि।
न समस्त्यपदं वाक्यं यत्स्याज्ज्ञानविधायकम् ॥ १९ ॥

[श्रोताओंको तत्तत् वस्तुओंका पृथक् २ अपने अपने स्वरूपसे ज्ञान दूसरे प्रमाणोंसे ही सिद्ध है, इसलिए इस प्रकारके ज्ञानको उत्पन्न करानेके लिए पदोंका प्रयोग करना निरर्थक होगा। अतएव जो अज्ञात है, उसीको समझाने के लिए पदोंका परस्पर सम्बन्ध किया जाता है, ऐसा मानना पड़ेगा और सब कारकोंका परस्पर सम्बन्ध क्रियाके बिना सिद्ध नहीं होता। इस कारण क्रियाका ही बोध करानेमें सब शब्दोंकी सामर्थ्य है। अतएव]

क्रियापदके बिना अन्य पदोंका भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता और ऐसा कोई भी वाक्य नहीं है जो पदोंके बिना ज्ञानका विधायक हो। (ज्ञानका विधान तो क्या, पदोंके मिले बिना वह अपने स्वरूपको ही नहीं प्राप्त हो सकता।) ॥ १६ ॥

ज्ञानाऽभ्युपगमेऽपि न दोषः, यतः—

ज्ञानको मोक्षका साधन मान भी लिया जाय, तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि

कर्मणोऽङ्गाङ्गिभावेन स्वप्रधानतयाऽथवा।
सम्बन्धस्येह संसिद्धेर्ज्ञाने सत्यप्यदोषतः ॥ २० ॥

ज्ञानको चाहे कर्मका अङ्ग मानो अथवा स्वतन्त्र मानो, दोनों ही प्रकारसे ज्ञान और कर्म मिलकर मोक्षके साधन हैं, केवल ज्ञान नहीं। इस प्रकार ज्ञानका कर्मके साथ अङ्गाङ्गीभाव या समुच्चयरूप सम्बन्ध सिद्ध ही है।

यस्माज्ज्ञानाऽभ्युपगमाऽनभ्युपगमेऽपि न ज्ञानान्मुक्तिः ॥

ज्ञानको मुक्तिका साधन मानिये या न मानिये, दोनों ही पक्षोंमें केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती, यह सिद्ध हुआ।

अतः सर्वाश्रमाणां हि वाङ्मनःकायकर्मभिः।
स्वनुष्ठितैर्यथाशक्ति मुक्तिः स्यान्नाऽन्यसाधनात् ॥ २१ ॥

इसलिए सभी आश्रमवाले पुरुषोंको मन, वचन, और शरीर द्वारा यथाशक्ति भली-भाँति कर्मोंके आचरणसे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, अन्य किसी साधनसे नहीं।

[यहाँ तक ज्ञान और कर्मके समुच्चयको मोक्षका साधन माननेवालों की ओरसे पूर्वपक्ष किया गया है। अब]

असदर्थप्रलापोऽयमिति दूषणसम्भावनायाऽऽह—

उपर्युक्त पूर्वपक्षमें दोष दिखलानेके लिए उसको 'यह व्यर्थ प्रलाप है, ऐसा कहते हैं—

इति हृष्टधियां वाचः स्वप्रज्ञाध्मातचेतसाम्।
घुष्यन्ते यज्ञशालासु धूमानद्धधियां किल ॥ २२ ॥

'केवल कर्मानुष्ठानसे ही हम लोगोंको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति हो जाएगी' इस प्रकारकी आशाओं से जिनकी बुद्धि प्रफुल्लित हो रही है, जिनका अन्तःकरण युक्ति एवं शास्त्रसे विरुद्ध अपनी ही कपोलकल्पनाओं से परिपूरित है, और जिनकी दृष्टि धुँएसे विकृत हुई है, अर्थात् यथार्थ वस्तुको सम्यक् नहीं ग्रहण कर सकती है, ऐसे कर्मवादी लोगोंकी पूर्वोक्त बातें प्रायः यज्ञशालाओं में सुनाई देती हैं ॥ २२ ॥

दूषणोपक्रमावधिज्ञापनायाऽऽह—

पूर्वोक्त कर्मवादियों के पूर्वपक्षमें कहाँतक और किस किस प्रकारसे दोष दिखलाए जाएँगे, यह कहते हैं—

अत्राऽभिदध्महे दोषान्क्रमशो न्यायबृंहितैः।
वचोभिः पूर्वपक्षोक्तिघातिभिर्नाऽतिसम्भ्रमात् ॥ २३ ॥

अब 'केवल कर्म ही मुक्तिका साधन है, इस पूर्वपक्षकी प्रक्रियाका निराकरण करनेमें समर्थ तथा युक्तिपूर्ण वचनों के द्वारा (असत् उत्तरका स्पर्श न करते) क्रमशः दोषोंका निरूपण करते हैं ॥ २३ ॥

चतुर्विधस्याऽपि कर्मकार्यस्य मुक्तावसंभवान्न मुक्तेः कर्मकार्यत्वम्—

उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार इन चार प्रकारके कर्म-फलोंमेंसे मुक्ति कोई भी फल नहीं हो सकती, क्योंकि स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति नित्यसिद्ध होनेके कारण आत्मरूप है। अतएव मुक्ति कर्म-साध्य नहीं हो सकती। और—

अज्ञानहानमात्रत्वान्मुक्तेः कर्म न साधनम् ।
कर्माऽपमार्ष्टि नाऽज्ञानं तमसीवोत्थितं तमः ॥ २४ ॥

अज्ञाननिवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है। इसलिए भी कर्म उसका साधन नहीं हो सकता। यदि कहिये कि "अज्ञानकी निवृत्ति कर्मसे क्यों नहीं होती ?" सो यह ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे अन्धकारमें उत्पन्न हुए रज्जु-सर्पके भ्रमको अन्धकार नहीं दूर कर सकता, वैसे ही अज्ञानोत्पन्न कर्म भी अज्ञानका नाश करनेमें असमर्थ है ॥ २४ ॥

कर्मकार्यत्वाऽभ्युपगमेऽपि दोष एव—

मोक्षको कर्मका कार्य मान भी लिया जाय, तब भी अनेक दोष आते हैं—

एकेन वा भवेन्मुक्तिर्यदि वा सर्वकर्मभिः ।
प्रत्येकं चेद् वृथाऽन्यानि सर्वेभ्योऽप्येककर्मता ॥ २५ ॥

क्या एक कर्मका फल मोक्ष है या सम्पूर्ण कर्मोंका ? यदि एक कर्मका फल मोक्ष है, तब तो अन्य सब कर्म व्यर्थ हो जाएंगे और यदि सब कर्म मिल कर मोक्षजनक हैं, नाना कर्मोंके नाना फल जो श्रुतियोंमें कहे हैं, वे सब असङ्गत हो जाएँगे ॥ २५ ॥

[इसपर यदि कोई शङ्का करे कि "नित्य नैमित्तिक कर्मोंका कोई फल श्रुतिमें नहीं बतलाया है, इसलिए उन कर्मोंको फलकी आकाङ्क्षा है। मोक्ष भी एक फल है। उसको भी साधनकी आकाङ्क्षा है। इस प्रकार परस्परकी आकाङ्क्षासे कर्म और मोक्षका साध्य-साधनभाव परिशेषानुमानसे सहजमें सिद्ध होता है। तथा अन्य भी ऐसे बहुतसे कर्म हैं, जिनका फल कुछ भी नहीं बतलाया है। उनका भी मोक्षमें ही विनियोग हो जायगा।" तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि]

सर्वप्रकारस्याऽपि कर्मणः उत्पत्तित एव विशिष्टसाध्याभिसम्बन्धान्न पारिशेष्यसिद्धिः ।

[विधिवाक्य इष्टसाधन कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं, इष्ट साध्य पदार्थ को कहते हैं, परन्तु मोक्ष तो साध्य नहीं है। "अग्निहोत्रं जुहोति" (अग्निहोत्र करे) इत्यादि विधि-वाक्योंसे ही अग्निहोत्रादि किसी इष्टके साधन हैं, ऐसा सिद्ध हो जाता है और जिन विश्वजित् आदि कर्मोंका कोई फल विधिवाक्योंमें श्रुत नहीं है, उनका भी स्वर्ग ही फल है, ऐसा निर्णय महर्षि जैमिनिजीने किया है। इस कारण] सब प्रकारके कर्मोंका उत्पत्ति—अपने अपने विधिवाक्यों—से ही किसी न किसी विशिष्ट साध्य फलके साथ अङ्गाङ्गीभावरूप सम्बन्ध पाया जाता है। अतएव परस्पराकाङ्क्षा न होनेके कारण परिशेषानुमानसे कर्म मोक्षका साधन नहीं सिद्ध हो सकता।

दुरितक्षपणार्थत्वान्न नित्यं स्याद्विमुक्तये ।
स्वर्गादिफलसम्बन्धात् काम्यं कर्म तथैव न ॥ २६ ॥

और आपके (मीमांसकके) मतके अनुसार भी नित्यकर्मोंका फल पापनाश और काम्य कर्मोंका फल स्वर्गादि है। तब दोनों प्रकारके कर्म मोक्षके साधन कैसे हो सकते हैं ? ॥ २६ ॥

प्रमाणासम्भवाच्च—

और मोक्षका साधन कर्म है, इस विषयमें कोई प्रामण भी नहीं है।

साध्यसाधनभावोऽयं वचनात्पारलौकिकः ।
नाऽश्रौपं मोक्षदं कर्म श्रुतेर्वक्त्रात्कथञ्चन ॥ २७ ॥

साधनका परलोकमें होनेवाले अर्थात् अदृष्टरूप फलके साथ अङ्गाङ्गी भाव श्रुतिवचनोंसे सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा कोई वचन श्रुति या स्मृतिमें हमने कहीं नहीं सुना, जिसमें कि कर्म मोक्षका साधन है, ऐसा वर्णन किया हो ॥ २७ ॥

अभ्युपगताभ्युपगमाच्च श्वश्रूनिर्गच्छोक्तिवत् भवतो निष्प्रयोजनः प्रलापः ।

पूर्वमें जो आपने निषिद्ध तथा काम्य कर्मोंका त्याग करना एवं नित्य कर्मोंका निष्फल होना कहा है, इतना प्रपञ्च करके भी अन्तमें आपको हमारा ही सिद्धान्त स्वीकार करना है। सुतराम् आपका यह सब कथन ऐसा ही निष्प्रयोजन प्रलाप है जैसे कि कोई सास अपनी बहूको किसी भिक्षुकसे "यहाँ कुछ नहीं मिलेगा" यह कहते सुनकर उससे कहे कि "तेरा घरमें क्या अधिकार है जो तू इस भिक्षुकसे कहती है कि यहाँ कुछ नहीं मिलेगा ?" इस प्रकार का कलह कर पुनः उस भिक्षुकसे (वह भी) यही कहे कि "जाओ यहाँ कुछ नहीं मिलेगा।" क्योंकि—

निषिद्धकाम्ययोस्त्यागस्त्वयाऽपीष्टो मया यथा ।
नित्यस्याऽफलवत्त्वाच्च न मोक्षः कर्मसाधनः ॥ २८ ॥

निषिद्ध और काम्य कर्मोंका त्याग जैसे आपको इष्ट है, हम भी उसको वैसे ही मानते हैं, और नित्य कर्मोंका फल कुछ नहीं है। इसलिए कर्म मोक्षका साधन नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

एवं तावन्मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वादिति निरस्तोऽयं पक्षोऽथाऽधुना सर्वकर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणेन यथावस्थितात्मवस्तुविषयकेवलज्ञानमात्रादेव सकलसंसाराऽनर्थनिवृत्तिरितीमं पक्षं द्रढयितुकाम आह—

इस प्रकार 'कर्मसे ही मुक्ति सिद्ध है' इस पक्षका खण्डन हो चुका। अब आगे इसके अनन्तर सब प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्तिके कारणका विचार करते हुए 'नित्यसिद्ध आत्मवस्तुके ज्ञानसे ही सकल संसारके अनर्थोंकी निवृत्ति हो सकती है' इस पक्षको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं।

इह चेदं परीक्ष्यते—किं यथा प्रतिषिद्धेषु यादृच्छिकेषु च कर्मसु स्वाभाविकस्वाशयोत्थनिमित्तवशादेवेदं हितमिदमहितमिति [विशेषान्] परिकल्प्य मृगतृष्णिकोदकपिपासुरिव लौकिकप्रमाणसिद्धान्येव च साधनान्युपादाय इष्टप्राप्तयेऽहितनिवृत्तये च स्वयमेव प्रवर्तते निवर्तते च तथैवाऽदृष्टार्थेषु काम्येषु नित्येषु च कर्मसु, किंवाऽन्यदेव तत्र प्रवृत्ति-निमित्तमिति ।

यहाँ इस बातका भी विचार किया जाता है कि जैसे निषिद्ध और यादृच्छिक (स्वेच्छामात्रसे होनेवाले—भोजनादि) कर्मोंमें शास्त्रविधानके बिना ही स्वाभाविक मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए रागद्वेषादिरूप प्रवृत्ति और निवृत्तिके कारणोंसे 'यह वस्तु हितकर है और यह अहितकर है' ऐसी कल्पना करके—मृगतृष्णाके जलको पान करनेकी अभिलाषा करनेवाले मनुष्यके समान—लौकिक प्रमाणसे सिद्ध साधनोंको ग्रहणकर सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए यह पुरुष अपने आप ही प्रवृत्त और निवृत्त होता है। क्या वैसे ही अदृष्टार्थ काम्य और नित्य कर्मोंमें भी प्रवृत्त और निवृत्त होता है? या उनमें प्रवृत्तिका कारण कोई दूसरा ही है?

किञ्चाऽतो यद्येवम्? शृणु, यदि तावत् यथावस्थितवस्तुसम्यग्ज्ञानं प्रमाणभूतमागमिकं लौकिकं वा प्रवृत्तिनिमित्तमिति निश्चयो निवृत्तिशास्त्रं च नाभ्युपगम्यते तदा हताः कर्मत्यागिनो भ्रान्तिविज्ञान-मात्रावष्टम्भात् अलौकिकप्रमाणोपात्तकर्मानुष्ठानत्यागित्वाच्च। अथ मृगतृष्णिकोदकपिपासुप्रवृत्तिनिमित्तवदयथावस्तुभ्रान्तिविज्ञानमेव सर्व-प्रवृत्तिनिमित्तं तदा वद्धामहे वयं हताःस्थ यूयमिति।

शङ्का—यदि काम्य और नित्यकर्मोंमें भी मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न रागद्वेषादि ही प्रवृत्तिके निमित्त हों अथवा अन्य कोई हो, इससे आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

समाधान—[पूर्वोक्त विचारसे हमारा यह प्रयोजन यह है कि—] यदि वस्तुके अनुरूप होनेके कारण जो अत्यन्त प्रामाणिक है, ऐसा वैदिक अथवा लौकिक यथार्थज्ञान ही कर्मोंमें प्रवृत्तिका कारण है, ऐसा आपका निश्चय है। और निवृत्तिशास्त्र अर्थात् कर्मसंन्यास-विधायक शास्त्रको—आजीवन अग्निहोत्रादिकर्मोंका विधान करनेवाले 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' (जबतक आयु हो, तब तक अग्निहोत्र करे) शास्त्रसे विरुद्ध होनेके कारण कर्मोंमें—अनधिकारी अन्धे, लूले, लँगड़े आदि लोगोंके लिए मानकर उसे सर्वसाधारणके लिए न माना जाय, तब तो कर्मत्यागियोंकी बड़ी स्वार्थहानि हुई। क्योंकि उनका सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक ठहर गया और वैदिक प्रमाणोंसे

प्रतिपादित कर्मोंका अनुष्ठान भी उन्होंने छोड़ दिया ? और यदि मृगतृष्णिका जलके अभिलाषी मनुष्यकी प्रवृत्तिके समान अयथार्थ (जैसी वस्तु है उसके विपरीत होनेवाला) भ्रान्तिज्ञान ही इन सब कर्मोंमें प्रवृत्तिका कारण है, तब हम लोगोंका सिद्धान्त यथार्थ-ज्ञानमूलक और कर्मवादी लोगोंका सिद्धान्त मिथ्याज्ञानमूलक सिद्ध होनेसे हम लोगोंकी विजय और आपकी हानि होगी ?

हितं सम्प्रेप्सतां मोहादहितं च जिहासताम् ।
उपायान्प्राप्तिहानार्थान् शास्त्रं भासयतेऽर्कवत् ॥२९॥

शास्त्र हितकी प्राप्ति और अहितका परित्याग करनेकी इच्छा करनेवाले अज्ञानके वशवर्ती लोगोंको उनकी इच्छाके अनुसार प्रकाशमय सूर्यके समान सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके उपायोंको बतलाता है ॥ २९ ॥

[यहाँ यह बात विचारने योग्य है कि सुषुप्तिदशामें विषयसम्बन्धी सुखके न रहनेपर भी उठनेपर 'मैं अब तक सुखसे सोया' इस प्रकारके अनुभवसे आत्माकी सुखरूपता अनुभवसे सिद्ध है । सब प्राणियोंका सब वस्तुओंसे अपनी आत्मामें अधिक प्रेम देखा जाता है और अधिक प्रेम सुखरूपमें होता है । इस प्रकार अनुमान प्रमाणसे भी आत्माकी सुखरूपता निश्चित है । श्रुतियोंमें भी आत्माकी नित्य निरतिशयानन्द-रूपताका बार बार वर्णन किया है और श्रुतियोंसे ही उस आत्माकी कूटस्थता, असङ्गता और साक्षिता भी सिद्ध है । अतएव स्वभावसे ही सब प्रकारके दुःखोंका आत्मामें अभाव है । इसलिए पूर्ववर्णित निरतिशयसुखस्वरूप आत्माके अज्ञानसे ही सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिकी इच्छा हुआ करती है । न कि शास्त्र मनुष्योंको "तुम लोग कर्ता और भोक्ता हो, तुम्हारे लिए कुछ वस्तु ग्रहण करने योग्य और कुछ वस्तु त्यागने योग्य हैं । इसलिए तुम्हें ग्रहण करने योग्यों का ग्रहण और त्यागने योग्य वस्तुओंके परित्यागकी इच्छा करनी चाहिए । और तुम लोग वर्ण, आश्रम, दशा (अवस्था) आदिसे युक्त हो ।" ऐसा उपदेश देकर इस प्रकार उनमें कर्तृत्वादि धर्मोंका नवीनतया उत्पादन करता है । बल्कि अपने आप ही विपरीत धर्मोंका अपने ऊपर आरोप करके अपने आप ही ग्रहण या त्याग करने योग्य वस्तुओंके ग्रहण और त्यागके उपायोंको ढूँढनेवाले मनुष्योंके लिए तत् तत् फलोंके साथ तत् तत् कर्मोंके अङ्गाङ्गी भावका प्रति-पादन करता है । उनकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका विधान करनेमें शास्त्र प्रवृत्त नहीं है किन्तु उदासीन है ।]

एवं तावत्प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणावष्टम्भादेवाऽऽत्मनो निरतिशय-सुखहिताव्यतिरेकसिद्धेरहितस्य च षष्ठगोचरवत् स्वत एवाऽनभिसम्ब-न्धात् । एवं स्वाभाव्यात्मानवबोधमात्रादेव हितं मे स्यादहितं मे मा भू-

दिति मिथ्याज्ञानं तूषरशुक्तिकानवबोधोत्थमिथ्याज्ञानवत्प्रवृत्तिनिमित्त-मित्यवधारितम् । शास्त्रं च न पदार्थशक्त्याधानकृदित्यस्यैवोत्तरत्र प्रपञ्च आरभ्यते ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम इन तीन प्रमाणोंके बलसे ही आत्माकी न्यूनाधिक्यरहित सुखरूपता सिद्ध है और दुःखका सम्बन्ध—अनुपलब्धि प्रमाणके विषय—अभावके समान—न होनेके कारण स्वभावसिद्ध दुःखसम्बन्धसे रहित सुखस्वरूप आत्मवस्तु के अज्ञानसे 'मुझे सुख हो, दुःख न हो, ऐसा मिथ्याज्ञान ही—मरुस्थल और शुक्तिमें उनके न जाननेसे उत्पन्न हुए (जल और रजतरूप) मिथ्याज्ञानके समान—प्रवृत्ति और निवृत्तिका कारण है। शास्त्र किसी पदार्थमें नवीन शक्ति उत्पन्न नहीं करता किन्तु वह वस्तुओंकी वर्तमान शक्तिको प्रकाशित करता है, यह निर्धारित किया गया। अब आगे इसी बातका विस्तार किया जाता है—

न परीप्सां जिहासां वा पुंसः शास्त्रं करोति हि ।
निजे एव तु ते यस्मात् पश्वादावपि दर्शनात् ॥ ३० ॥

शास्त्र पुरुषोंकी किसी वस्तुमें इच्छा अथवा अरुचि उत्पन्न नहीं करता। किन्तु अपने स्वाभाविक अज्ञानवश ही वे हुआ करती हैं। क्योंकि शास्त्रीय ज्ञानके बिना भी पशु आदिमें इच्छा और द्वेष स्वभावतः देखे जाते हैं ॥ ३० ॥

उक्तं तावदनबुद्धवस्तुयाथात्म्य एव विधिप्रतिषेधशास्त्रेष्वधि-क्रियत इति। अथाधुना विषयस्वभावानुरोधेन प्रवृत्त्यसंभवं वक्तुकाम आह—

जिस पुरुषको अपने स्वरूपका अज्ञान है, वही विधि-निषेध शास्त्रमें अधिकारी होता है, यह पहिले कहा जा चुका है। अब तत्त्वज्ञानके विषयभूत आत्माके स्वरूपका विचार करनेसे भी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, यह बात कहते हैं—

लिप्सतेऽज्ञानतो लब्धं कण्ठे चामीकरं यथा ।
वर्जितं च स्वतो भ्रान्त्या छायायामात्मनो यथा ॥ ३१ ॥
भयान्मोहावनद्धात्मा रक्षःपरिजिहीर्षति ।
यच्चाऽपरिहृतं वस्तु तथाऽलब्धं च लिप्सते ॥ ३२ ॥

यह मनुष्य अज्ञानके कारण जो पहलेसे ही प्राप्त है, उसको भूले हुए कण्ठके हारके समान, प्राप्त करनेकी तथा भय या मोहसे अभिभूतमनवाला होकर (भ्रान्तिसे) अपनी छायामें कल्पित राक्षसके समान, जो वस्तु कदापि नहीं प्राप्त है, उसको दूर करनेकी चेष्टा करता है। और जो वास्तवमें अपनेसे अपरिहृत—चोर, व्याघ्र आदि हैं एवं अलब्ध-वित्तादि पदार्थ हैं उनका परित्याग एवं ग्रहण करनेकी इच्छा करता है ॥३१-३२॥

[इस श्लोकमें ग्रन्थकारने लोकप्रवृत्तिके चार भेद बतलाए हैं। (१) जो वस्तु स्वयं ही प्राप्त है, अज्ञानवश उसकी प्राप्तिके लिए। जैसे कि भूले हुए कण्ठके हारकी प्राप्तिके लिए (२) जो वस्तु कदापि प्राप्त नहीं है, भ्रमवश उसको छोड़नेके लिए। जैसे कि भयके कारण अपनी छायामें कल्पित भूतकी निवृत्तिके लिए (३) जो वास्तवमें छोड़ने योग्य वस्तु है, उसके छोड़नेके लिए। जैसे कि पैरमें लपटे हुए सर्प आदि को दूर करनेके लिए। और (४) जो यथार्थमें अप्राप्त है उस वस्तुकी प्राप्तिके लिए। जैसे कि ग्रामादिकी प्राप्तिके लिए लोकमें प्रवृत्ति देखी जाती है।]

तत्रैतेषु चतुर्षु विषयेषु प्राप्तये परिहाराय च विभज्य न्यायः प्रदर्श्यते।

अब इन चार विषयोंमें प्राप्ति और परिहारके लिए पृथक्-पृथक् युक्तिपूर्वक उपाय दिखलाया जाता है—

प्राप्तव्यपरिहार्येषु ज्ञात्वोपायान् श्रुतेः पृथक्।
कृत्वाऽथ प्राप्नुयात्प्राप्यं तथाऽनिष्टं जहात्यपि॥ ३३॥

प्राप्त करने योग्य स्वर्गादि पदार्थोंकी प्राप्ति और त्यागने योग्य नरकादि पदार्थोंके परिहारके लिएसमर्थ तत्-तत् उपयोंको शास्त्र द्वारा पृथक्-पृथक् जानकर (अधिकारी) पुरुष (विधिपूर्वक अनुष्ठान करके उससे उत्पन्न हुए अदृष्टसे) इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्टका परित्याग करता है॥ ३३॥

अथावशिष्टयोः स्वभावतः—

वर्जितावाप्तयोर्बोधाद्धानप्राप्ती न कर्मणा।
मोहमात्रान्तरायत्वात् क्रियया ते न सिद्ध्यतः॥ ३४॥

और बाँकी बचे हुए स्वाभाविक नित्यप्राप्त सुख और नित्यनिवृत्त दुःख, इन दोनों प्रकारके पदार्थोंकी प्राप्ति और निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। क्योंकि उनकी प्राप्ति और निवृत्तिमें प्रतिबन्धक केवल अज्ञान ही है, इस कारण वे दोनों क्रियाके द्वारा प्राप्त और निवृत्त नहीं हो सकते॥ ३४॥

कस्मात्पुनरात्मवस्तुयाथात्म्यावबोधमात्रादेवाभिलषितनिरतिशय-सुखप्राप्ति-निःशेष-दुःखनिवृत्ती भवतः, न तु कर्मणेति ? उच्यते—

किस कारण ऐसा कहा जाता है कि आत्मवस्तुके यथार्थज्ञानमात्रसे ही अभिलषित, निरतिशय (तारतम्यरहित) सुखकी प्राप्ति और निःशेष दुःखकी समूल निवृत्ति होती है, कर्मसे नहीं ? इस शङ्काका समाधान करते हैं—

कर्माज्ञानसमुत्थत्वान्नाऽलं मोहापनुत्तये।
सम्यग्ज्ञानं विरोध्यस्य तमिस्रस्यांऽशुमानिव॥ ३५॥

अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण कर्म उसकी (अज्ञानकी) निवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं है और तत्त्वज्ञान मिथ्याऽज्ञानका विरोधी है, इसलिए वह, अन्धकारको सूर्यके समान, मिथ्या-अज्ञानको नष्ट करनेमें समर्थ है ॥ ३५ ॥

नन्वात्मज्ञानमप्यविद्योपादानं न हि शास्त्रशिष्याचार्याद्यनुपादायाऽऽत्मज्ञानमात्मानं लभत इति ।

शङ्का—आत्मज्ञानका उपादान कारण भी तो अविद्या ही है। क्योंकि शास्त्र, शिष्य और गुरु इत्यादि अज्ञानसे माने हुए वस्तुओंके बिना तो वह उत्पन्न ही नहीं होता। (जब वह स्वयं अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है तब वह भी अज्ञानको कैसे नष्ट कर सकता है ?)

नैष दोषः। यत आत्मज्ञानं हि स्वतःसिद्धपरमार्थात्मवस्तुमात्राऽऽश्रयादेवाविद्यातदुत्पन्नकारकग्रामप्रध्वंसि, स्वात्मोत्पत्तावेव शास्त्राद्यपेक्षते नोत्पन्नमविद्यानिवृत्तौ। कर्म पुनः स्वात्मोत्पत्तावुत्पन्नं च। नहि क्रिया कारकनिःस्पृहा कल्पकोटिव्यवहितफलदानाय स्वात्मानं बिभर्ति, साध्यमानमात्ररूपत्वात्तस्याः। न च क्रियाऽऽत्मज्ञानवत् स्वात्मप्रतिलम्भकाल एव स्वर्गादिफलेन कर्तारं सम्बध्नाति। आत्मज्ञानं पुनः पुरुषार्थसिद्धौ नोत्पद्यमानस्वरूपव्यतिरेकेणान्यद्रूपान्तरं साधनान्तरं वापेक्षते। कुत एतद्यतः।

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान स्वयंप्रकाश, वास्तवमें सत् रूप आत्मवस्तुको विषय करता हुआ उसीके बलसे अविद्या और उससे उत्पन्न हुई कारण-सामग्रीको नष्ट करता है और केवल अपनी उत्पत्तिके लिए ही शास्त्रादिकी अपेक्षा करता है। उत्पन्न होनेपर अविद्याको नष्ट करनेके लिए वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता। परन्तु कर्म तो अपनी उत्पत्तिके लिए और उत्पन्न होनेपर फल देनेके लिए भी अविद्याकी अपेक्षा करता है। कोई भी क्रिया अपने कारणकी (अविद्याकी) अपेक्षा न रखती हुई करोड़ों कल्पोंके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले फलको देनेके लिए अपने आत्माको—स्वरूपको—धारण नहीं कर सकती। क्योंकि क्रियाका स्वरूप सर्वदा ही परतन्त्र तथा साध्यमात्र ही है और वह आत्म-ज्ञानके समान उत्पन्न होते ही कर्ताको अपने द्वारा उत्पन्न होनेवाले स्वर्गादि फलोंसे संयुक्त नहीं करती; परन्तु आत्मज्ञान तो अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्षका सम्पादन करनेके लिए अपनी उत्पत्तिके अतिरिक्त अभ्यास या कर्म, किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता।

[शङ्का—द्वैतज्ञान अनादि कालसे चला आता है और उसके संस्कार भी अनादि

कालसे हैं और तत्त्वज्ञान तो अभी उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह अनादि कालसे प्रवृत्त मिथ्या अज्ञानसे दब जायगा। अतः उसको अपनी स्थितिके लिए अभ्यासकी अपेक्षा अवश्य होनी चाहिए, परन्तु क्या कारण है जो वह अभ्यासकी अपेक्षा नहीं करता? समाधान—]

बलवद्धि प्रमाणोत्थसम्यग्ज्ञानं न बाध्यते।
आकाङ्क्षते न चाऽप्यन्यद्बाधनं प्रति साधनम्॥३६॥

यह तत्त्वज्ञान प्रमाणसे उत्पन्न होनेके कारण प्रबल है, इसलिए मिथ्याज्ञानसे बाधित नहीं होता और प्रबल होनेके कारण ही वह मिथ्याज्ञानके संस्कारोंको नष्ट करनेमें किसी दूसरे सहायककी अपेक्षा भी नहीं करता॥ ३६॥

स्वपक्षस्य हेत्ववष्टम्भेन समर्थितत्वान्निराशङ्कमुपसंह्रियते।

प्रबल प्रमाणोंसे अपने पक्षका समर्थन करके अब निःशङ्क होकर अग्रिम श्लोकसे उपसंहार किया जाता है—

तस्माद्दुःखोदधेर्हेतोरज्ञानस्याऽपनुत्तये।
सम्यग्ज्ञानं सुपर्याप्तं क्रिया चेन्नोक्तहेतुतः॥ ३७॥

पूर्वोक्त करणोंसे दुःख-समुद्रके कारण अज्ञानको दूर करनेके लिए तत्त्वज्ञान ही समर्थ है, पूर्वोक्त दोषोंके कारण कर्म नहीं॥ ३७॥

ननु बलवदपि सम्यग्ज्ञानं सदप्रमाणोत्थेनाऽसम्यग्ज्ञानेन बाध्यमानमुपलभामहे। यत उत्पन्नपरमार्थबोधस्याऽपि कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषाद्यनवबोधोत्थप्रत्यया आविर्भवन्ति। न ह्यबाधिते सम्यग्ज्ञाने तद्विरुद्धानां प्रत्ययानां सम्भवोऽस्ति।

शङ्का—तत्त्वज्ञान अत्यन्त प्रबल होनेपर भी अप्रमाणसे उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञानसे बाधित होते देखा जाता है। क्योंकि तत्त्वज्ञानीको भी सांसारिक पुरुषोंके समान अज्ञानसे उत्पन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष इत्यादि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। बिना तत्त्वज्ञानके बाधित हुए तो उसके विरुद्ध यह सब मिथ्याज्ञान हो ही नहीं सकते! (इसलिए तत्त्वज्ञान का मिथ्याअज्ञानसे बाध अवश्य होता है!)

नैतदेवम्। कुतः—

बाधितत्वादविद्याया विद्यां सा नैव बाधते।
तद्वासना निमित्तत्वं यान्ति विद्यास्मृतेर्ध्रुवम्॥ ३८॥

समाधान—(आपके कथनानुसार) तत्त्वज्ञान मिथ्याअज्ञानसे बाधित नहीं होता। क्योंकि तत्त्वज्ञानसे अविद्या बाधित अर्थात् नष्ट हो जाती है, इसलिए वह उसका

बाध नहीं कर सकता, प्रत्युत तत्त्वज्ञानके संस्कारोंसे बारम्बार उसीका स्मरण निश्चयरूपसे होता रहता है। इससे यदि कभी द्वैतका स्मरण हो भी जाय तो भी मिथ्याअज्ञान तत्त्वज्ञानका बाध नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

"कर्माऽज्ञानसमुत्थत्वादि"–त्युक्तो हेतुस्तस्य च समर्थनं पूर्वमेवाऽभिहितं–"हितं सम्प्रेप्सतामि"–त्यादिना। तदभ्युच्चयार्थमविद्यान्वयेन च संसारान्वयं प्रदर्शयिष्यामीत्यत आह—

"कर्म अज्ञानको नहीं नष्ट कर सकता" इस प्रतिज्ञाकी पुष्टि के लिए 'कर्माऽज्ञानसमुत्थत्वात्' इस (३५ वें) श्लोकमें हेतुका वर्णन किया और उसका समर्थन भी 'हितं सम्प्रेप्सताम्' (२८) इत्यादि श्लोकोंसे पूर्व ही कर दिया। अब 'कर्म मिथ्याअज्ञानको उत्पन्न करता हुआ फिर भी कर्ममें ही प्रवृत्त करता है। इस कारणसे भी कर्म मिथ्याऽज्ञानका नाशक नहीं हो सकता' यह दूसरी युक्ति अग्रिम श्लोकसे दिखलाते हैं—

ब्राह्मण्याद्यात्मके देहे लात्वा नाऽऽत्मेति भावनाम्।
श्रुतेः किङ्करतामेति वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥ ३९ ॥

यह पुरुष वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था इत्यादिसे युक्त देहमें 'यही आत्मा है' ऐसा आरोप करके वाणी, मन तथा शरीर द्वारा कर्म करता हुआ वेदशास्त्रोंका किङ्कर बन जाता है ॥ ३९ ॥

यस्मात्कर्माऽज्ञानसमुत्थमेव, तस्मात्तद्व्यावृत्तौ निवर्तत इत्युच्यते।

क्योंकि कर्म अज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है, इस कारण अज्ञानकी निवृत्तिसे ही वह निवृत्त होता है, यह कहते हैं—

दग्धाखिलाऽधिकारश्चेद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः।
वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि नैव स्याद्वेदकिङ्करः ॥ ४० ॥

ब्रह्मज्ञानरूप अग्निसे जिस पुरुषका कर्मप्रवाह दग्ध हो गया है, ऐसा मननशील महात्मा तो वेदशास्त्रोंके मस्तकपर आरूढ होता हुआ फिर उनका किङ्कर—दास—नहीं रह सकता ॥ ४० ॥

अथेतरो घनतराऽविद्यापटलसंवीतान्तःकरणोऽङ्गीकृतकर्तृत्वाद्यशेषकर्माधिकारकारणो विधिप्रतिषेधचोदनासंदंशोपदष्टः कर्मसु प्रवर्तमानः—

और ब्रह्मज्ञानीसे भिन्न—अन्य संसारी पुरुष, जिसका कि अन्तःकरण गाढ़ अविद्यारूप अन्धकारसे आच्छादित है, जिसने कर्मप्रवाहके प्रधान कारण 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि अभिमानोंको अङ्गीकार किया है और जो 'यह करना चाहिए' 'यह नहीं करना चाहिए' इत्यादि विधि और निषेधरूप सँडसोंसे जकड़ा हुआ कर्मोंमें प्रवृत्त हो रहा है, वह—

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥ ४१ ॥

शुभ कर्मोंसे देवादिभाव, अशुभ कर्मोंसे नरक गति और शुभाशुभ—मिश्रित—कर्मोंसे मनुष्य शरीरको विवश होकर प्राप्त होता है ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते घोरे दुःखोदधौ घटीयन्त्रवदारोहावरोहन्यायेनाऽधममध्यमोत्तमसुख - दुःखमोहविद्युच्चपलसम्पातदायिनीर्विचित्रयोनीश्चण्डोत्पिञ्जलकश्वसनवेगाभिहताम्भोनिधि-मध्यवर्तिशुष्कालाबुवच्छुभाशुभव्यामिश्रकर्मवायुसमीरितः—

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त भयङ्कर दुःखरूप संसारसमुद्रमें, जिस प्रकार कुएँमें चलते हुए रहटके छोटे छोटे घड़े कभी ऊपर और कभी नीचे जाते हैं; इसी प्रकार विजलीकी चमकके समान क्षणिक सुख, दुःख और मोहको उत्पन्न करनेवाली, नाना प्रकारकी विचित्र अधम, मध्यम और उत्तम योनियोंको ग्रहण करता हुआ, प्रचण्ड एवं झकोर डालनेवाले वायुके वेगसे चपेटा हुआ, समुद्रमें पड़े हुए सूखे तुंबेके समान- शुभ, अशुभ एवं सम्मिलित कर्मरूप वायुसे इतस्ततः प्रेरित होकर इतस्ततः भटकता हुआ—

एवं चङ्क्रम्यमाणोऽयमविद्याकामकर्मभिः ।
पाशितो जायते कामी म्रियते चाऽसुखावृतः ॥ ४२ ॥

अविद्या, पूर्ववासना तथा पुण्यपाप रूप कर्मसे बाँधा (फाँसा) हुआ कामी पुरुष सुख-दुःखोंसे घेरा हुआ जन्म लेता और मरता रहता है ॥ ४२ ॥

यथोक्तेऽर्थे आदरविधानाय प्रमाणोपन्यासः—

पूर्वोक्त विषयमें जिज्ञासुओंका अधिक आदर उत्पन्न करनेके लिए अग्रिम श्लोक द्वारा उसमें प्रमाण देते हैं—

श्रुतिश्चेमं जगादार्थं कामस्य विनिवृत्तये ।
तन्मूला संसृतिर्यस्मात्तन्नाशोऽज्ञानहानतः ॥ ४३ ॥

श्रुति भी कामनाओंके परित्याग करनेके लिए इसी अर्थ—विषय—का वर्णन करती है । "क्योंकि यह सारा संसार अज्ञानका कार्य है, अतः अज्ञानका नाश होनेसे यह नष्ट होता है" ।

का त्वसौ श्रुतिरिति चेत् ?

शङ्का—वह श्रुति कौनसी है ?—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" "इतिन्वि" ति च वाजिनः ।
कामबन्धनमेवेदं व्यासोऽप्याह पदे पदे ॥ ४४ ॥

उत्तर—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।" यह तथा "इति नु कामयमान" इत्यादि बृहदारण्यक-श्रुति 'कामनाओंके छूट जानेपर यह पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है' इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करती है और भगवान् श्रीव्यास भी जहाँ-तहाँ यही बात कहते हैं ॥ ४४ ॥

एवं संसारपन्था व्याख्यातः। अथेदानीं तद्व्यावृत्तये कर्माण्यारादुपकारकत्वेन यथा मोक्षहेतुतां प्रतिपद्यन्ते तथाऽभिधीयते।

यह संसारके कारणका, व्याख्यान किया गया। इसके अनन्तर अब उससे छुटकारा पानेके लिए 'कर्म किस प्रकार परम्परासे मोक्षके साधक हो सकते हैं' यह प्रतिपादन किया जाता है—

तस्यैवं दुःखतप्तस्य कथञ्चित् पुण्यशीलनात्।
नित्येहाक्षालितधियो वैराग्यं जायते हृदि॥ ४५॥

इस प्रकार दुःखसे सन्तप्त मनुष्यके हृदयमें, किसी प्रकार पुण्यशील हो जानेसे नित्यकर्मानुष्ठानके प्रभावसे चित्तकी शुद्धि होनेसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ॥ ४५ ॥

कीदृग्वैराग्यमुत्पद्यत इति, उच्यते—

किस प्रकारका वैराग्य उत्पन्न होता है, यह अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

नरकाद्भीर्यथाऽस्याऽभूत्तथा काम्यफलादपि।
यथार्थदर्शनात्तस्मान्नित्यं कर्म चिकीर्षति॥ ४६॥

जिस प्रकार इस साधक पुरुषको नरकसे भय हुआ करता था, उसी प्रकार काम्यकर्मोंके फलसे भी "यह अनित्य है और तारतम्यसे युक्त है" इस प्रकारके यथार्थ ज्ञानसे, उसको भय होता है। इसलिए फिर वह (काम्यकर्मोंको छोड़कर) केवल नित्यकर्म करनेकी इच्छा करता है ॥ ४६ ॥

एवं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन—

शुद्ध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पितकर्मभिः।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम्॥ ४७॥

इस प्रकार नित्य और नैमित्तिक-कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेसे चित्त शुद्धिके द्वारा ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त अनात्म वस्तुओंमें अतीव निर्मल—विशुद्ध—वैराग्य हो जाता है ॥ ४७ ॥

यस्माद्रजस्तमोमलोपसंसृष्टमेव चित्तं कामबडिशेनाऽऽकृष्य विषयदुरन्तसूनास्थानेषु निःक्षिप्यते, तस्मान्नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानपरिमार्जनेनापविद्धरजस्तमोमलं प्रसन्नमनाकुलं सम्मार्जितस्फटिकशिला-

कल्पं बाह्यविषयहेतुकेन च रागद्वेषात्मकेनाऽतिग्रहबडिशेनाऽनाकृष्यमाणं निर्धूताशेषकल्मषं प्रत्यङ्मात्रप्रवणं चित्तदर्पणमवतिष्ठतेऽत इदमभिधीयते—

क्योंकि रजोगुण और तमोगुणके मलसे मलिन हुआ चित्त ही, काँटेमें लगे आटेसे आकृष्ट हुई मछलीके समान, कामनाओंसे खिंचकर शब्द, स्पर्शादि विषयरूप हिंसाके स्थानोंमें फेंका जाता है। इसलिए जब नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानरूप मार्जनसे रजोगुण और तमोगुणके मलसे रहित हो जानेके कारण प्रसन्न, प्रशान्त एवं धोई हुई स्फटिक शिलाके समान अतीव स्वच्छ, बाह्य विषयोंमें उत्पन्न हुए राग-द्वेषरूप महान् बन्धनकारी बडिशों (बंसी) द्वारा नहीं खींचा जाता हुआ तथा समस्त पाप से रहित और केवल एक आत्माकी ओर ही झुका हुआ चित्तरूप दर्पण स्थिर हो जाता है; तब यह कहा जाता है कि—

व्युत्थिताशेषकामेभ्यो यदा धीरवतिष्ठते।
तदैव प्रत्यगात्मानं स्वयमेवाऽऽविविक्षति ॥ ४८ ॥

जिस समय बुद्धि समस्त कामनाओंसे हटकर शुद्ध और स्थिर हो जाती है, उस समय वह अपने आप ही आत्माकी ओर प्रविष्ट होने लगती है ॥ ४८ ॥

अतः परमवसिताधिकाराणि कर्माणि प्रत्यक्प्रवणतापत्तौ कृतसम्प्रत्तिकानि चरितार्थानि सन्ति—

बुद्धि शुद्ध होनेके अनन्तर कर्मोंका सब कृत्य समाप्त हो जाता है। इसलिए वे बुद्धि को आत्माकी ओर आकर्षण करके (झुका करके) अर्थात् उन्हें अपने सब कार्य सौंपकर कृतार्थ हो जाते हैं—

प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥ ४९ ॥

(इस प्रकार) कर्म बुद्धिको शुद्ध करके उसे आत्माकी ओर लगाके कृतार्थ होकर वर्षा ऋतुके अन्तमें मेघोंके समान अस्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

यतो नित्यकर्म्मानुष्ठानस्यैष महिमा—

तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यमात्मज्ञानाभिलाषिभिः।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म सदैवाऽऽत्मविशुद्धये ॥ ५० ॥

क्योंकि यह बुद्धिका शुद्ध होना आदि सब नित्य कर्मके अनुष्ठानकी ही महिमा है, इसलिए आत्मज्ञानके अभिलाषी मुमुक्षुओंको अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान सर्वदा ही करना चाहिए ॥ ५० ॥

यथोक्तेऽर्थे सर्वज्ञवचनं प्रमाणम् ।

कहे हुए विषयमें सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्णके वचनको प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ५१ ॥

जो तत्त्वज्ञानके साधन ध्यानयोगको प्राप्त करनेकी इच्छा तो करता है, पर उसका अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं है ऐसे साधकके लिए कर्म साधन है और योगानुष्ठानमें समर्थ उसी योगीके लिए शम (संन्यास योग) अर्थात् कर्मोंका त्याग ही साधन है ॥५१॥

नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिः, धर्मोत्पत्तेः पापहानिः ततश्चित्तशुद्धिः ततः संसारयाथात्म्यावबोधः, ततो वैराग्यम्, ततो मुमुक्षुत्वम्, ततस्तदुपायपर्य्येषणम्, ततः सर्वकर्मतत्साधनसंन्यासः, ततो योगाभ्यासः, ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता, ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानम्, ततोऽविद्योच्छेदः, ततश्च स्वात्मन्येवाऽवस्थानम् ।' ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', 'विमुक्तश्च विमुच्यते" इति ।

पारम्पर्येण कर्मैवं स्यादविद्यानिवृत्तये ।
ज्ञानवन्नाविरोधित्वात्कर्माऽविद्यां निरस्यति ॥५२॥

नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे धर्मोत्पत्ति, धर्मोत्पत्तिसे पापोंका नाश, पापनाशसे चित्तकी शुद्धि, चित्तशुद्धिसे संसारके वास्तविकरूपका बोध, संसारके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानसे संसारसे वैराग्य, वैराग्यसे मुक्ति प्राप्त करनेकी (संसार-बन्धनोंसे छूटनेकी) इच्छा, मुक्ति-प्राप्तिकी इच्छासे उसके उपायका अन्वेषण, उससे सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनोंका परित्याग, तदनन्तर योगाभ्यास, योगाभ्याससे चित्तकी प्रत्यक्प्रवणता अर्थात् चित्तका आत्माकी ही ओर लगना, उससे 'तत्त्वमसि' (वही तू है) इत्यादि वाक्योंके अर्थभूत शुद्ध-ब्रह्मका साक्षात्कार, साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति और और अविद्याकी निवृत्तिसे केवल आत्मस्वरूपसे परमात्मामें स्थिति होती है। जैसा कि श्रुति प्रतिपादन करती है— "ज्ञान होनेके पूर्व भी ब्रह्मरूपमें स्थित आत्मा ब्रह्म ही को प्राप्त हो जाता है।" "और मुक्त हुआ ही ज्ञान होनेपर मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार कर्म परम्परासे अविद्याके नाशमें कारण हो सकता है। परन्तु ज्ञानके समान अविद्याका विरोधी न होनेके कारण अज्ञानकी निवृत्तिका साक्षात्कारण वह नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

न च कर्मणः कार्यमण्वपि मुक्तौ सम्भाव्यते, नापि मुक्तौ यत्सम्भवति तत्कर्माऽपेक्षते । तदुच्यते—

कर्मका प्रयोजन अणुमात्र भी मुक्तिमें सम्भावित नहीं है और जो मुक्तिमें सम्भावित है 'स्वरूपमें स्थित होना' वह कर्मकी अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए यह कहा जाता है—

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न साधनम्॥ ५३॥

मुक्ति उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य और विकार्य, ऐसे चार प्रकारके कर्म-फलोंमें से कोई भी नहीं हो सकती। इसलिए कर्म उसका साधन नहीं हो सकता॥ ५३॥

एवं तावत् केवलं कर्म साक्षादविद्यापनुत्तये न पर्याप्तमिति प्रपञ्चितम्, मुक्तौ च मुमुक्षुज्ञानतद्विषयस्वाभाव्यानुरोधेन सर्वप्रकारस्यापि कर्मणोऽसंभव उक्तो 'हितं सम्प्रेप्सतामि' त्यादिना। यादृशश्चाऽऽरादुपकारकत्वेन ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणां समुच्चयः संभवति तथा प्रतिपादितम्। अविद्योच्छित्तौ तु लब्धात्मस्वभावस्याऽऽत्मज्ञानस्यैवाऽसाधारणं साधकतमत्वं नाऽन्यस्य प्रधानभूतस्य गुणभूतस्य वेत्येतदधुनोच्यते।

इस प्रकार केवल कर्म साक्षात्सम्बन्धसे अविद्याका नाश करनेके लिए समर्थ नहीं है, यह विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया। अनित्य कर्म-फलसे विरक्त होना मुमुक्षुका स्वभाव है, प्रमाण एवं वस्तुके परतन्त्र होनेके कारण अविद्याको निवृत्त करना ज्ञानका स्वभाव है और कूटस्थ होनेके कारण साध्य न होना यह ज्ञानके विषय—आत्माका स्वभाव है। इन कारणोंसे मुक्तिमें किसी प्रकारके भी कर्मका कारण (साधन) होना असंभव है, यह "हितं सम्प्रेप्सताम्" (२८) इत्यादि श्लोकोंसे प्रतिपादन किया गया। और परम्परासम्बन्धसे ज्ञानोत्पत्तिमें उपकारक होनेके कारण कर्मका ज्ञानके साथ समुच्चय जिस प्रकार हो सकता है, वह भी प्रतिपादन कहा किया गया। परन्तु अविद्याकी निवृत्ति करनेमें तो अपने स्वरूपको प्राप्त हुआ दृढ़ आत्मज्ञान ही प्रधान कारण है, उसका कोई दूसरा प्रधान या गौण भावसे सहायक नहीं है, इस बातका निरूपण अब आगे किया जाता है।

तत्र ज्ञानं गुणभूतं तावदहेतुरित्येतदाह—

उसमें से प्रथम मुक्ति-प्राप्तिमें ज्ञान गौणभावसे और कर्म प्रधानभावसे साधन है, इस पक्षका निरास करते हुए कहते हैं—

सन्निपत्य न च ज्ञानं कर्माज्ञानं निरस्यति।
साध्यसाधनभावत्वादेककालानवस्थितेः॥ ५४॥

ज्ञान कर्मका अङ्ग होकर अविद्याकी निवृत्ति नहीं कर सकता, क्योंकि कर्म अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा ज्ञानका साधन है, इसलिए साध्यभूत ज्ञानके साथ उसकी एककालमें स्थिति न होनेसे ज्ञान और कर्मका अङ्गाङ्गी भाव हो नहीं सकता॥ ५४॥

समप्रधानयोरप्यसम्भव एव—

कर्म और ज्ञान दोनोंका समप्रधानभाव (अर्थात् मोक्ष-सिद्धिमें कर्म और ज्ञान दोनोंकी तुल्यबलता) भी नहीं हो सकता, क्योंकि—

बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव ।
एकदेशानवस्थानान्न समुच्चयता तयोः ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार सिंह और मेषका (भेड़का) परस्पर विरोध होनेके कारण एक स्थानपर रहना असम्भव है। वैसे ही ज्ञान और कर्मका बाध्यबाधक भाव (अर्थात् ज्ञान कर्मका बाधक और कर्म ज्ञानसे बाध्य) होने के कारण, ये दोनों एक ही समय एक पुरुषमें रह ही नहीं सकते, इसलिए समप्रधानभाव भी नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

कुतो बाध्यबाधकभावः, यस्मात्

शङ्का—इन दोनोंका—कर्म और ज्ञानका—बाध्य-बाधकभाव क्यों है ?

अयथावस्तुविद्या स्याद्विद्या तस्या विरोधिनी ।
समुच्चयस्तयोरेवं रविशार्वरयोरिव ॥ ५६ ॥

समाधान—चूँकि अज्ञान मिथ्यावस्तुविषयक है और ज्ञान उसका विरोधी है! इसलिए सूर्य और अन्धकारके समान इन दोनोंका समुच्चय हो नहीं सकता ॥ ५६ ॥

तस्मादकारकब्रह्मात्मनि परिसमाप्तावबोधस्याऽशेषकर्मचेदना नाम चोद्यस्वाभाव्यात्कुण्ठिता, कथम् तदभिधीयते—

कर्ता, कर्म तथा करण आदि कारकोंके लक्षणोंसे रहित अर्थात् जो वास्तवमें किसीका कर्ता, कर्म या करण आदि नहीं हो सकता ऐसे ब्रह्म वस्तुका ज्ञानके द्वारा जिसने साक्षात्कार कर लिया है, उस पुरुषको कर्ममें प्रवृत्त करानेमें सम्पूर्ण विधिनिषेध शास्त्र कुण्ठित-स्वभाव हो जाते हैं। इसका कारण क्या है? यह दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

बृहस्पतिसवे यद्वत् क्षत्रियो न प्रवर्तते ।
ब्राह्मणत्वाद्यहंमानी विप्रो वा क्षात्रकर्मणि ॥ ५७ ॥

जैसे क्षत्रियत्वका अभिमान रखनेवाले पुरुषकी ब्राह्मणके लिए विहित बृहस्पति-सव नामक यागमें प्रवृत्ति नहीं होती और ब्राह्मणत्वका अभिमान रखनेवालेकी प्रवृत्ति भी क्षत्रियोचित—राजसूयादि—कर्ममें नहीं होती ॥ ५७ ॥

यथाऽयं दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिकोऽपीत्याह—

जैसा यह दृष्टान्त है, वैसा ही दार्ष्टान्तिक भी है, यह कहते हैं—

विदेहो वीतसन्देहो नेतिनेत्यवशेषितः ।
देहाद्यनात्मदृक् तद्वत् तत्क्रियां वीक्षतेऽपि न ॥ ५८ ॥

इसी प्रकार, जिस पुरुषका देहाभिमान तथा सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो गये हैं, जो 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति-वाक्यों द्वारा अनात्म वस्तुओंका बाध करके केवल आत्मस्वरूपमें स्थित है, वह (निरभिमान एवं निःसन्दिग्ध) पुरुष अनात्माकी—देहादिकी—क्रियाओंको देखता तक नहीं है ॥ ५८ ॥

तस्याऽर्थस्याऽऽविष्करणार्थमुदाहरणम्—

देहादिमें मिथ्याभिमानवालेकी ही प्रवृत्ति होती है, अभिमान-रहितकी नहीं। इस विषयको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

मृत्स्नेभके यथेभत्वं शिशुरध्यस्य वल्गति।
अध्यस्याऽऽत्मनि देहादीन् मूढस्तद्वद्विचेष्टते ॥ ५९ ॥

जैसे मिट्टीके हाथीमें (खिलौनेमें) यह हाथी है, ऐसा आरोप करके बालक क्रीड़ा करता है ऐसे ही अज्ञानी पुरुष अनात्म देहादि वस्तुओंका आत्मामें आरोप कर नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है ॥ ५९ ॥

न च वयं ज्ञानकर्मणोः सर्वत्रैव समुच्चयं प्रत्याचक्ष्महे, यत्र प्रयोज्य-प्रयोजकभावो ज्ञानकर्मणोस्तत्र नाऽस्मत्पित्राऽपि शक्यते निवारयितुम्। तत्र विभागप्रदर्शनायोदाहरणं प्रदर्श्यते—

हम सर्वत्र ही ज्ञान और कर्मके समुच्चयका खण्डन नहीं करते, क्योंकि जहाँपर उनका अङ्गाङ्गी भाव है, वहाँ हमारे पिताजी भी उनके समुच्चयका वारण नहीं कर सकते ? किस जगहपर ज्ञान और कर्मका अङ्गाङ्गी भाव है ? इसका निरूपण करनेके लिए उदाहरण दिखलाते हैं—

स्थाणुं चोरधियाऽऽलाय भीतो यद्वत्पलायते।
बुद्ध्यादिभिस्तथाऽऽत्मानं भ्रान्तोऽध्यारोप्य चेष्टते ॥६०॥

जैसे मनुष्य स्थाणुको—वृक्षके ठूँठको—चोर समझकर भयसे भागने लगता है। वैसे ही भ्रान्त पुरुष आत्माको देहेन्द्रियरूप समझकर कर्म करता है। [ऐसे स्थलोंमें ज्ञान (देहादिमें आत्मज्ञान होनेसे) कर्मोंमें प्रवृत्तिका निमित्त होनेके कारण कर्मका अङ्ग है] ॥ ६० ॥

एवं यत्र यत्र ज्ञानकर्मणोः प्रयोज्यप्रयोजकभावस्तत्र तत्र सर्वत्राऽयं न्यायः। यत्र तु न समकालं नाऽपि क्रमेणोपपद्यते समुच्चयः स विषय उच्यते।

इस प्रकार जहाँ जहाँ ज्ञान और कर्मका अङ्गाङ्गी भाव है वहाँ सर्वत्र यही न्याय

समझ लेना चाहिए। और जहाँ ज्ञान एवं कर्मका एक ही समय अथवा क्रमसे भी समुच्चय नहीं हो सकता, उस विषयको अब कहते हैं।

स्थाणोः सतत्त्वविज्ञानं यथा नाऽङ्गं पलायने।
आत्मनस्तत्त्वविज्ञानं तद्वन्नाङ्ग क्रियाविधौ ॥ ६१ ॥

जैसे यह चोर नहीं, किन्तु वृक्ष ठूँठ है; इस प्रकारसे सूखे वृक्षका यथार्थज्ञान भागनेमें कारण नहीं होता। वैसे ही आत्माका तत्त्वज्ञान (मैं अकर्ता, अभोक्ता—ब्रह्म हूँ, इस प्रकारका ज्ञान) कर्म करनेमें निमित्त नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥

यस्माद्गुणस्यैतत्स्वाभाव्यम्—

यद्धि यस्याऽनुरोधेन स्वभावमनुवर्तते।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद्गुणो यतः ॥ ६२ ॥

क्योंकि गुणका (अप्रधानका) यह स्वभाव है कि जो जिसके अनुरोधसे जिसके स्वभावका अनुगमन करता है, वह पदार्थ उसका गुणभूत कहलाता है। और जो प्रधानका अनुगमन नहीं करता बल्कि उसका विरोधी है, वह उसका गुण (अङ्ग) नहीं कहलाता ॥ ६२ ॥

यस्मात्—

कर्म-प्रकरणाकाङ्क्षि ज्ञानं कर्म-गुणो भवेत्।
यद्धि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्गं प्रचक्षते ॥ ६३ ॥

क्योंकि कर्मप्रकरणमें यदि ज्ञानका विधान किया गया होता तो वह कर्मका अङ्ग हो सकता क्योंकि जो जिसके प्रकरणमें विहित है वह उसका अङ्ग मीमांसा-शास्त्रमें माना गया है ॥ ६३ ॥

स्वरूपलाभमात्रेण यत्त्वविद्या निहन्ति नः।
न तदङ्गं प्रधानं वा ज्ञानं स्यात्कर्मणः क्वचित् ॥ ६४ ॥

जो (ज्ञान) उत्पन्न होते ही हमारी अविद्याको समूल नष्ट कर देता है वह ज्ञान कर्मका अङ्ग अथवा प्रधान नहीं हो सकता है ॥ ६४ ॥

समुच्चयवादिनाऽप्यवश्यमेव तदभ्युपगन्तव्यम्। यस्मात्—

आत्मज्ञानका कर्मके साथ समुच्चय माननेवालेको भी प्रमाणसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञानको अज्ञानका नाशक अवश्य ही मानना पड़ेगा। क्योंकि—

अज्ञानमनिराकुर्वज्ज्ञानमेव न सिध्यति।
विपन्नकारकग्रामं ज्ञानं कर्म न ढौकते ॥ ६५ ॥

अज्ञानको निवृत्त किये विना तो वह ज्ञान ही नहीं कहला सकता। और यदि उसको अज्ञानका नाशक मानिये तो जिसने अज्ञानसे उत्पन्न सम्पूर्ण कारकोंका नाश कर दिया है वह (ज्ञान) फिर कर्मका स्पर्श ही कैसे कर सकता है ॥ ६५ ॥

इदं चाऽपरं कारणं ज्ञानकर्मणोः समुच्चयनिर्वहि—

हेतुस्वरूपकार्याणि प्रकाशतमसोरिव ।
विरोधिनि ततो नाऽस्ति साङ्गत्यं ज्ञानकर्मणोः ॥ ६६ ॥

ज्ञान और कर्मका समुच्चय न होनेमें यह एक और भी कारण है कि ज्ञानके कारण, स्वरूप और फल कर्मके कारण, स्वरूप और फलसे—अन्धकारके कारण आदिसे प्रकाशके कारण आदिके समान—सर्वथा परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए उनका—ज्ञान और कर्मका—सहभाव किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥

एवमुपसंहृते केचित्स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः—यदेतद्वेदान्तवाक्यादहंब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेणाऽज्ञानं निरस्यति। किं तर्हि ? अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो भावनोपचयान्निःशेषमज्ञानमपगच्छति, "देवो भूत्वा देवानप्येति" इति श्रुतेः। अपरे तु ब्रुवते—वेदान्तवाक्यजनितमहं ब्रह्मेति विज्ञानं संसर्गात्मकत्वादात्मवस्तुयाथात्म्यावगाह्येव न भवति, किं तर्हि ? एतदेव गङ्गास्रोतोवत्सततमभ्यस्यतोऽन्यदेवाऽवाक्यार्थात्मकं विज्ञानान्तरमुत्पद्यते तदेवाऽशेषाऽज्ञानतिमिरोत्सारीति 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति श्रुतेः। इत्यस्य पक्षद्वयस्य निवृत्तये इदमभिधीयते।

["ज्ञान उत्पन्न होते ही कर्मका नाशक होता है, इसलिए कर्मके साथ उसका समुच्चय कदापि नहीं हो सकता" यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।] इसपर कोई लोग अपने साम्प्रदायिक बलके सहारेसे यह कहते हैं कि "यह जो वेदान्त वाक्योंसे 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा ज्ञान होता है, वह उत्पन्न होते ही अविद्याकी निवृत्ति नहीं करता किन्तु दीर्घकालपर्यन्त प्रतिदिन उसका निदिध्यासन करनेसे उसके संस्कार दृढ़ होते हैं तब वह अज्ञानको नष्ट करता है। क्योंकि "स्वयं देव बनकर देवोंको प्राप्त होता है" यह श्रुति शुद्ध भावनाओंकी वृद्धि होनेसे फिर देहपतनके बाद देवभावको प्राप्त होना प्रतिपादन करती है।'

और दूसरे लोग इसपर यह कहते हैं कि वेदान्त-वाक्योंसे उत्पन्न हुआ 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान विशेषण और विशेष्यके सम्बन्धको विषय करनेवाला होनेके कारण (अर्थात् इसमें 'मैं' इस पदसे विशेष्यरूपसे जीवात्मा और 'ब्रह्म' इस पदसे विशेषणरूपसे

ब्रह्मके सम्बन्धका विषय करनेवाला ज्ञान होता है, इसलिए आत्मवस्तुके यथार्थ स्वरूपको वह विषय ही नहीं कर सकता। किन्तु इसी ज्ञानका निरन्तर गङ्गाप्रवाहके समान अभ्यास करते करते ऐसा एक ज्ञान (जिसमें विशेषण, विशेष्य और उनका सम्बन्ध, इन तीनों पदार्थोंको भान नहीं होता) उदय होता है। वही सम्पूर्ण अज्ञानान्धकारको दूर करता है। क्योंकि "विज्ञाय"—इस प्रथम शब्दसे विशिष्ट ज्ञानको प्राप्त कर पश्चात्—'प्रज्ञां कुर्वीत'—निर्विकल्प ज्ञानका सम्पादन करे, ऐसा यह श्रुति प्रतिपादन करती है।"

इन दोनों पक्षोंका खण्डन करनेके लिए अग्रिम प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है—

सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नाऽस्त्यतोऽनयोः॥ ६७॥

वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होते ही क्रिया, कारक आदि द्वैतके उत्पादक अज्ञानको नष्ट कर देता है। इस कारणसे इन दोनोंका सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता॥ ६७॥

एवं तावदनानात्वे ब्रह्मणि ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो निराकृतः। अथाऽधुना पक्षान्तराभ्युपगमेनाऽपि प्रत्यवस्थाने पूर्ववदनाश्वासो यथा तथाऽभिधीयते—

इस प्रकार एक अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मको मानकर ज्ञान और कर्मके समुच्चयका निराकरण किया। अब इसके अनन्तर यदि कोई जीवात्माका ब्रह्मके साथ भेदाऽभेदवाद मानकर भी उसकी प्राप्तिके लिए ज्ञान-कर्मका समुच्चय सिद्ध करे तो भी पूर्ववत् ही दोष आते हैं, यह कहा जाता है—

अनुत्सारितनानात्वं ब्रह्म यस्याऽपि वादिनः।
तन्मतेनाऽपि दुःसाध्यो ज्ञानकर्म्मसमुच्चयः॥ ६८॥

जिस वादीके मतमें जीवसे ब्रह्म पृथक् भी है और अभिन्न भी है, उसके मतमें भी उसकी प्राप्तिके लिए ज्ञान कर्मका समुच्चय होना कठिन है॥ ६८॥

तस्य विभागोक्तिर्दूषणविभागप्रज्ञप्तये—

भेदवादियोंके मतोंमें पृथक्-पृथक् दूषण दिखानेके लिए उनका मत कितने प्रकार का है, यह बतलाते हैं—

ब्रह्मात्मा वा भवेत्तस्य यदि वाऽनात्मरूपकम्।
आत्मनाप्तिर्भवेन्मोहादितरस्याऽप्यनात्मनः॥ ६९॥

उन वादियोंके मतमें ब्रह्म आत्मरूप है, किंवा आत्मभिन्न—अनात्मरूप है?

यदि आत्मरूप ही है, तब तो उसकी अप्राप्ति अज्ञानसे ही माननी पड़ेगी और यदि ब्रह्म जीवात्मासे भिन्न ही है, तो वास्तवमें अनात्मा होनेसे सर्वदा उसकी अप्राप्ति ही रहेगी; फिर वहाँ ज्ञान या कर्मसे क्या प्रयोजन है ?

तत्र यदि वास्तवेनैव वृत्तेन ब्रह्मप्राप्तमात्मस्वाभाव्यात्केवलमासुरमोहपिधानमात्रमेवाऽनाप्तिनिमित्तं तस्मिन्पक्षे—

यदि ब्रह्म आत्मरूप होनेके कारण वास्तवमें प्राप्त ही है, तब तो केवल अज्ञानका, जो आसुर मोह कहलाता है, आवरणमात्र ही ब्रह्मकी अप्राप्तिमें कारण होगा। सो उस पक्षमें—

मोहापिधानभङ्गाय नैव कर्माणि कारणम् ।
ज्ञानेनैव फलवाप्तेस्तत्र कर्म निरर्थकम् ॥ ७० ॥

मोहावरणका नाश करनेके लिए कर्म कारण नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञानसे ही उसकी (मोहकी निवृत्ति) हो जायगी। वहाँ कर्म निरर्थक ही होगा ॥ ७० ॥

अनात्मरूपके तु ब्रह्मणि न कर्म साधनभावं प्रतिपद्यते नाऽपि ज्ञानं कर्मसमुच्चितमसमुच्चितं वा, यस्मादन्यस्य स्वत एव साधकस्य ब्रह्मणोऽप्यन्यत्वं स्वत एव सिद्धम् । तत्रैवम्—

और यदि ब्रह्म आत्मासे भिन्न है तो भी (मोहकी निवृत्तिमें) कर्म साधन नहीं हो सकता और न कर्मसहित अथवा केवल ज्ञान ही साधन हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिके लिए साधनोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषको—ब्रह्मसे स्वत एव भिन्न होनेके कारण—ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यदि कहो कि जीवका ब्रह्मके साथ है तो वास्तवमें भेद ही, परन्तु उस भेदको ही नष्ट करनेके लिए प्रयत्न करते हैं ? [तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि—]

अन्यस्याऽन्यात्मताप्राप्तौ न क्वचिद्धेतुसम्भवः ।
तस्मिन्सत्यपि नाऽनष्टः परात्मानं प्रपद्यते ॥ ७१ ॥

अन्यका अन्यके साथ अभेद कर देनेके लिए कहीं भी कोई हेतु नहीं देखा गया है। यदि अन्यरूप होनेवाला विद्यमान रहे तो वह विरुद्ध होनेके कारण अन्यका रूप नहीं बन सकता। यदि वह नष्ट हो जाय तो अन्यरूप कौन होगा ? क्योंकि वह तो रहा ही नहीं जो दूसरेका रूप बन जाय ॥ ७१ ॥

अपरस्मिंस्तु पक्षे न विधिः—

परमात्मानुकूलेन ज्ञानाभ्यासेन दुःखिनः ।
द्वैतिनोऽपि विमुच्येरन् न परात्मविरोधिना ॥ ७२ ॥

जिनके सिद्धान्तमें जीवात्माका ब्रह्मके साथ भेदाभेद (अर्थात् सत्त्व, चैतन्य, विभुत्व आदि साधर्म्यसे अभेद और अल्पज्ञत्व, कर्मफलभोक्तृत्व आदि वैधर्म्यसे भेद) माना जाता है, उनको भी केवल अद्वैतज्ञानसे मोक्ष न मानकर "मैं ब्रह्मरूप हूँ" इस आत्मरूपताके अनुकूल भावनाकी (जिसको उपासना कहते हैं) मोक्षकी प्राप्तिके लिए विधि माननी पड़ेगी। इस आत्मस्वभावानुकूल 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारकी भावनासे बेचारे दुःखी द्वैतवादी लोग भी मुक्त हो जायँगे। परन्तु आत्मस्वरूपके विरुद्ध कर्मोंसे नहीं ॥ ७२ ॥

इतरस्मिंस्तु पक्षे विधेरेवाऽनवकाशत्वम्। कथम्?

और जिस मतमें जीव और ब्रह्मका सर्वथा अभेद ही है, उस पक्षमें तो उपासना-विधिके लिए भी अवकाश नहीं है। क्योंकि—

समस्तव्यस्तभूतस्य ब्रह्मण्येवाऽवतिष्ठतः।
ब्रूत कर्माणि को हेतुः सर्वानन्यत्वदर्शिनः ॥ ७३ ॥

जो समस्त कर्म करनेवालेमें से पृथक् हो गया है, अथवा जो समष्टि-व्यष्टिरूप हुआ है तथा जो केवल ब्रह्म में ही स्थित है, उस—सब पदार्थोंके साथ अभेदको जाननेवाले—पुरुषको आप ही कहिए, कर्ममें कौन प्रवृत्त कर सकता है? ॥ ७३ ॥

सर्वकर्मनिमित्तसंभवाऽसंभवाभ्यां सर्वकर्मसङ्करश्च प्राप्नोति। यस्मात्—

अभेदपक्षमें ब्रह्मज्ञानीकी कर्ममें प्रवृत्ति मान ली जाय तो उसकी प्रवृत्तिमें कर्मोंका सङ्कर हो जाएगा। क्योंकि—

सर्वजात्यादिमत्त्वेऽस्य नितरां हेत्वसम्भवः।
विशेषं ह्यनुपादाय कर्म नैव प्रवर्तते ॥ ७४ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष तो सर्वात्मक ब्रह्मके साथ एकीभूत होनेके कारण सभी जातियों-से युक्त हुआ है। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य, इनमें से किसी एकके ही कर्ममें इसकी प्रवृत्ति होनेका कोई कारण नहीं है। और बिना 'मैं ब्राह्मण हूँ, या 'क्षत्रिय हूँ' इत्यादि विशेषके समझे कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और उसको यह विशेष ज्ञान रहता नहीं। इस कारण उसकी किसी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ७४ ॥

स्याद्विधिरध्यात्माभिमानादिति, चेन्नैवम्। यस्मात्—

न चाध्यात्माऽभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम् ॥ ७५ ॥

शङ्का—यद्यपि ब्रह्मज्ञानीका सर्वात्मक ब्रह्मके साथ अभेद है, तथापि ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंसे युक्त शरीरका अभिमान होनेके कारण 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि विशेष भावको प्राप्त होकर ब्राह्मणादि जात्युचित कर्मोंमें प्रवृत्ति होनी चाहिए ? समाधान—यह ठीक नहीं; क्योंकि ब्रह्मज्ञानीको आसुर मोह न होनेके कारण देहादिमें ममत्व-बुद्धि ही नहीं है। यदि ब्रह्मज्ञानीको भी आसुर मोह माना जाय, तब उसका ब्रह्मज्ञान निष्फल हो जायगा ॥ ७५ ॥

अज्ञानकार्यत्वाच्च न समकालं नाऽपि क्रमेण ज्ञान-कर्मणोर्वस्त्व-वस्तुतन्त्रत्वात् सङ्गतिरस्तीत्येवं निराकृतोऽपि काशं कुशं वाऽवलम्ब्याऽऽह।

कर्म अज्ञानका कार्य है और ज्ञान उसका नाशक है। इसलिए कर्म और ज्ञानका एककालमें सम्बन्ध नहीं हो सकता और न क्रमसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञान वस्तुके अधीन होता है। कर्मका यथावत् वस्तुके अधीन होनेका कोई नियम नहीं है। इस प्रकार पूर्वप्रकरणमें ज्ञान और कर्मके सहभावका निराकरण करनेपर भी वादी काश-कुशावलम्बन न्यायसे फिर शङ्का करता है—

अथाऽध्यात्मं पुनर्यायादाश्रितो मूढतां भवेत् ।
स करोत्येव कर्माणि को ह्यज्ञं विनिवारयेत् ॥ ७६ ॥

यदि तत्त्वज्ञानीको भी शरीर, इन्द्रियादिमें अभिमान होता है ऐसा मान लीजिए तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जिसको देहादिमें अभिमान रहेगा, वह तत्त्वज्ञानी ही नहीं, किन्तु अज्ञानी ही कहलाएगा। फिर अज्ञ तो कर्मोंका आचरण करता ही है, उसको (कर्मोंसे) हटा ही कौन सकता है ? ॥ ७६ ॥

सिद्धत्वाच्च न साध्यम्, यतः—

सामान्येतररूपाभ्यां कर्मात्मैवाऽस्य योगिनः ।
निःश्वासोच्छ्वासवत्तस्मान्न नियोगमपेक्षते ॥ ७७ ॥

ब्रह्मज्ञानीके लिए आप जो कर्म कर्तव्य मानते हैं, उसके विधान करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके लिए कर्म तो स्वयं ही सिद्ध हैं। इसमें कारण यह है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, संसारमें जो कुछ भी सामान्य और विशेषरूप वस्तु है, वह सब ब्रह्मसे अभिन्न है। कर्म भी सामान्य-विशेषमें अन्तर्भूत होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्मज्ञानीसे भिन्न नहीं है। अतएव श्वास-प्रश्वासके समान स्वतः सिद्ध होनेके कारण वह (कर्म) कृतिका विषय नहीं है और न किसी विधि-विशेषकी अपेक्षा करता है ॥ ७७ ॥

अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्म। तथा च सति ज्ञानकर्मणी सम्भवतो भेदाभेदविषयत्वात्तयोः। तत्र तावदयं पक्ष एव न सम्भवति। किं कारणम् ? न हि भिन्नोऽयमित्यभेदबुद्धिमनिराकृत्य भेद-

बुद्धिः पदार्थमालिङ्गते । एवं ह्यनभ्युपगमे भिन्नाऽभिन्नपदार्थयोरलौकिकत्वं प्रसज्येत । अथ निष्प्रमाणकमप्याश्रीयते, तदप्युभयपक्षाभ्युपगमादभेदपक्षे दुःखि ब्रह्म स्यादित्यत आह—

शङ्का—अच्छा, यदि अभेदपक्षमें दोष आते हैं, तो ब्रह्मको जीवसे भिन्न और अभिन्न, दोनों ही प्रकारसे मान लिया जाय ? ऐसा मान लेनेसे ज्ञान और कर्म—दोनों की ही व्यवस्था हो जाएगी, क्योंकि भेद-बुद्धिसे कर्मानुष्ठान और अभेदबुद्धिसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका ज्ञानभी सङ्गत हो जाएगा ?

समाधान—यह तो पक्ष ही नहीं बन सकता, क्योंकि यह उससे भिन्न है, इस प्रकारकी बुद्धि एक ही पदार्थमें, यह उससे भिन्न नहीं है, इस प्रकारकी बुद्धिका निराकरण किए बिना नहीं उत्पन्न हो सकती। यदि यह न माना जाय तो ये दोनों पदार्थ लोकमें अप्रसिद्ध हो जाएँगे । यदि प्रमाणसे रहित होनेपर भी भेदाऽभेदपक्षका अवलम्बन करते ही हो, तो अभेद पक्षमें ब्रह्मके दुःखी होनेका दोष आएगा । इसी बातको कहते हैं—

भिन्नाभिन्नं विशेषैश्चेद्दुःखि स्याद् ब्रह्म ते ध्रुवम् ।
अशेषदुःखिता चेत्स्यादहो प्रज्ञाऽऽत्मवादिनाम् ॥ ७८ ॥

सामान्य और विशेषरूपसे वर्तमान सब वस्तुओंके साथ यदि ब्रह्मको अभिन्न मानो तो सम्पूर्ण वस्तु दुःखमय हैं, इसलिए निश्चय ही ब्रह्म दुःखमय हो जाएगा । क्योंकि सम्पूर्ण जीवोंका ब्रह्मके साथ अभेद हो जाएगा इससे जीवोंका सम्पूर्ण दुःख भी ब्रह्ममें आ जाएगा । ऐसा माननेसे तो जो ज्ञानी लोग ब्रह्मको प्राप्त होंगे वे दुःखमय ब्रह्मको प्राप्त होनेके कारण संसारियोंसे भी निकृष्ट हो जाएँगे । यदि ऐसा ही आपको स्वीकार है तो बलिहारी है आपकी बुद्धिकी, जो कि महान् दुःखको पुरुषार्थ समझ रही है ! ॥ ७८ ॥

तस्मात्सम्यगेवाऽभिहितं न ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इत्युपसंह्रियते—

इसलिए यह बहुत ठीक कहा गया है कि—(मुक्तिप्राप्तिकेलिए) ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता । इसका उपसंहार (अग्रिम-श्लोकसे) करते हैं—

तमोऽङ्गत्वं यथा भानोरग्नेः शीताङ्गता यथा ।
वारिणश्चोष्णता यद्वज्ज्ञानस्यैवं क्रियाङ्गता ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार सूर्यको अन्धकारका, अग्निको शीतका और जलको उष्णताका अङ्ग मानना सर्वथा अज्ञपन है, इसी प्रकार ज्ञानको कर्मका अङ्ग मानना भी सर्वथा अज्ञपन है । अर्थात् जैसे सूर्य, अग्नि और जल अन्धकार, शीत और उष्णताके नाशक होनेके कारण उनके अङ्ग नहीं हो सकते, वैसे ही ज्ञान भी कर्मका नाशक होनेके कारण उसका अङ्ग नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥

यथोक्तोपपत्तिबलेनैव पूर्वपक्षस्योत्सारितत्वाद् वक्तव्यं नाऽवशेषितमित्यतः प्रतिपत्तिकर्मवत्पूर्वपक्षपरिहाराय यत्किञ्चिद्वक्तव्यमित्यत इदमभिधीयते ।

मुक्ति-प्राप्तिका एकमात्र साधन ज्ञान ही है, यह सिद्ध होनेसे केवल कर्म अथवा ज्ञानकर्मका समुच्चय मुक्तिका साधन नहीं हो सकता, यह बात स्वत एव सिद्ध हो गयी। अब इस विषयमें कहना अवशिष्ट नहीं है। तथापि पूर्वपक्षीने कर्मको मुक्तिका साधन सिद्ध करनेमें जो युक्तियाँ दी हैं, उनका खण्डन जब तक न किया जाय तब तक पराधीन बुद्धिवाले लोगोंको सन्तोष नहीं होगा इसलिए प्रतिपत्ति कर्मसे (अर्थात् जिस वस्तुसे कार्य हो चुका वह फिर निरर्थक हो जाती है उसका त्याग स्वयमेव हो जाता है, परन्तु उसको विधिपूर्वक किसी स्थल-विशेषपर प्रक्षिप्त कर देना (रख देना) अच्छा होता है, इस प्रकारसे) पूर्वपक्षीकी सम्पूर्ण युक्तियोंका परिहार करनेके लिए कुछ कहना बाकी है। उसके लिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वादित्याद्यनुचितं बहु ।
यदभाणि तदन्याय्यं यथा तदधुनोच्यते ॥ ८० ॥

काम्य तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागपूर्वक नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे मुक्ति-प्राप्ति हो जाती है, फिर उसके लिए ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? इत्यादि पूर्वपक्षीका कथन जिस प्रकार अयुक्त है, वह अब कहते हैं ॥ ८० ॥

योऽयं काम्यानां प्रतिषिद्धानां च त्यागः प्रतिज्ञायते सा प्रतिज्ञा तावन्न शक्यतेऽनुष्ठातुम् । किं कारणम् ? कर्मणो हि निर्वृत्तात्मनो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां निवृत्तिः सम्भवति । आरब्धफलस्योपभोगेनाऽनारब्धफलस्याऽशुभस्य प्रायश्चित्तैरिति । तृतीयोऽपि त्यागप्रकारोऽकर्त्रात्मावबोधात्, स त्वात्मज्ञानाऽनभ्युपगमाद् भवता नाऽभ्युपगम्यते। तत्र यान्यनुपभुक्तफलान्यनारब्धफलानि तानीश्वरेणाऽपि केनचिदपि न शक्यन्ते परित्यक्तुम् । अथाऽऽरब्धफलानि त्यज्यन्ते तान्यपि न शक्यन्ते त्यक्तुम् । किं कारणम् ? अनिर्वृत्तेः । अनिर्वृत्तं हि चिकीर्षितं कर्म शक्यते त्यक्तुम्, प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रति कर्तुः स्वातन्त्र्यात् । निर्वृत्ते तु कर्मणि तदसम्भवाद् दुरनुष्ठेयः प्रतिज्ञातार्थः। अशक्यप्रतिज्ञानाच्च । न शक्यते प्रतिज्ञातुं यावज्जीवं काम्यानि प्रतिषिद्धानि च कर्माणि न करिष्यामीति सुनिपुणानामप्यपराधदर्शनात् प्रमाणाभावाच्च । न च प्रमाणमस्ति मोक्षकामो

नित्यनैमित्तिके कर्मणी कुर्यात्काम्यप्रतिषिद्धे च वर्जयेद् आरब्धले चोपभोगेन क्षपयेदिति । आनन्त्याच्च । न चोपचितानां कर्मणामियत्ताऽस्ति, संसारस्याऽनादित्वात् । न च काम्यैः प्रतिषिद्धैर्वा तेषां निवृत्तिरस्ति । शुद्ध्यशुद्धिसाम्ये सत्यविरोधादित्यत आह—

यह जो काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मके त्यागकी प्रतिज्ञा की जाती है, उसका पालन नहीं हो सकता, क्योंकि, जो कर्म हो चुके उनकी निवृत्ति दो ही प्रकारसे की जा सकती है। (१) जिन शुभाशुभ कर्मोंने फल देना आरम्भ कर दिया है, उनकी निवृत्ति उपभोगसे और (२) जिन्होंने फल देना आरम्भ नहीं किया है, ऐसे अशुभ कर्मोंकी (निवृत्ति) प्रायश्चित्तसे। और हाँ, एक तीसरा प्रकार भी—'मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ' इस प्रकार का ज्ञान भी–किए हुए कर्मोंकी निवृत्तिका कारण है। परन्तु उसको तो आत्मज्ञानको न माननेवाले आप (कर्मवादी लोग) मानते ही नहीं हो। उनमें से जिनका फल भोगा नहीं गया है और जिन्होंने फल देना आरम्भ नहीं किया है, उनका नाश तो बिना भोगे ईश्वर अथवा और कोई भी नहीं कर सकता। और जिन्होंने फल देना आरम्भ कर दिया है उनका भी नाश नहीं हो सकता, क्योंकि किए हुए कर्मोंका नाश माननेमें तुम्हारे—कर्मवादियोंके—मतमें दोष आएगा। और जो कर्म अभी किया नहीं गया है; किन्तु जिसके करनेकी इच्छामात्र की गई है, उस कर्मका त्याग हो सकता है। क्योंकि अपनी प्रवृत्तिके रोक लेनेमें कर्ताको स्वतन्त्रता है। परन्तु जब कर्म कर लिया तब तो उसकी निवृत्ति होना सर्वथा असम्भव है। इसलिए आपकी प्रतिज्ञाका पालन होना कठिन है, कठिन क्या सर्वथा अशक्य है। कोई भी यह प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि मैं जब तक जीऊँगा तब तक काम्य या प्रतिषिद्ध कर्म नहीं करूँगा। क्योंकि बड़े-बड़े सुनिपुण—कर्तव्यपरायणोंसे भी सूक्ष्म अपराध हो जाते हैं और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं मिल सकता। ऐसा कोई भी शास्त्रका प्रमाण नहीं है जो यह कहता हो कि "मोक्षकी इच्छावाला नित्य नैमित्तिक कर्म करे, काम्य और निषिद्ध कर्मको छोड़ दे और जिन्होंने फल देना आरम्भ कर दिया है, उन्हें भोग कर समाप्त कर दे।" कर्म अनन्त हैं। संसार अनादि होनेके कारण किये हुए कर्मोंका कोई अन्त नहीं है और न काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मोंसे उनकी निवृत्ति हो सकती है। क्योंकि दोनोंमें शुद्धि तथा अशुद्धि बराबर होनेके कारण विरोध नहीं है। यही बात अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

न कृत्स्नकाम्यसन्त्यागोऽनन्तत्वात्कर्तुमिष्यते ।
निषिद्धकर्मणश्चैव व्यतीतानन्तजन्मसु ॥ ८१ ॥

जन्म-जन्मान्तरोंमें अनुष्ठित सम्पूर्ण काम्य अथवा निषिद्ध कर्मोंका त्याग उनके अनन्त होनेके कारण सम्भव नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

स्यान्मतं व्यतीतानन्तजन्मोपात्तानां कर्मणाम्—

क्षयो नित्येन तेषां चेत्प्रायश्चित्तैर्यथैनसः ।
निष्फलत्वान्न नित्येन काम्यादेर्विनिवारणम् ॥ ८२ ॥

यदि कहो कि व्यतीत अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंका इस जन्मके नित्यकर्मानुष्ठानसे, प्रायश्चित्तसे पापनिवृत्तिके समान, नाश हो जाएगा ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतमें नित्यकर्म निष्फल हैं, इसलिए काम्य कर्मोंकी निवृत्ति करना उनका फल नहीं हो सकता ॥ ८२ ॥

प्रमाणाभावाच्च, कथम् ?—

पापापनुत्तये वाक्यात्प्रायश्चित्तं यथा तथा ।
गम्यते काम्यहानार्थं नित्यं कर्म न वाक्यतः ॥ ८३ ॥

और नित्यकर्मके अनुष्ठानसे काम्यकर्मोंकी निवृत्ति होती है, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि जैसे प्रायश्चित्तसे पाप निवृत्त होता है, इस विषयमें शास्त्रके वाक्य प्रमाण हैं उसी प्रकार नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे काम्यकर्मोंकी निवृत्ति होती है, इस विषयमें कोई वाक्य प्रमाण नहीं है ॥ ८३ ॥

अथाऽपि स्यात्काम्यैरेव काम्यानां पूर्वजन्मोपचितानां क्षयो भविष्यतीति । तन्न । यतः—

यदि यह कहो कि वर्तमान जन्ममें किये हुए काम्य कर्मोंसे ही पूर्वजन्ममें किये काम्य कर्मोंका क्षय हो जायगा, तो यह भी युक्त नहीं । क्योंकि—

पाप्मनां पाप्मभिर्नाऽस्ति यथैवेह निराक्रिया ।
काम्यैरपि तथैवाऽस्तु काम्यानामविरोधतः ॥ ८४ ॥

जैसे पापोंसे पापोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार विरोध न होने के कारण काम्य कर्मोंसे काम्यकर्मोंकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती ॥ ८४ ॥

एवं तावन्मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वादिति निराकृतम् । अथाऽऽत्मज्ञानस्य सद्भावे प्रमाणाऽसम्भव उक्तस्तत्परिहारायाऽऽह—

इस प्रकार "मुक्ति क्रियाओंसे ही सिद्ध है, उसके लिए ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ?" इस पक्षका निराकरण किया गया । अब आत्मज्ञानके अस्तित्वमें पूर्वपक्षीने जो प्रमाणोंका अभाव बताया था, उसका प्रतिकार करनेके लिए कहते हैं—

श्रुतयः स्मृतिभिः साकमानन्त्यात्कामिनामिह ।
विदधत्युरुयत्नेन कर्माऽतो भूरिकामदम् ॥ ८५ ॥

जगत्में कामी पुरुषोंकी संख्या अत्यन्त अधिक है। इस कारण समस्त श्रुति और स्मृतियाँ इच्छित फल देनेमें समर्थ अनेक कर्मोंका विधान करती हैं। [इससे यह नहीं सिद्ध होता कि आत्मज्ञान नहीं है अथवा वह मोक्षका मुख्य साधन नहीं है। इसलिए वादीका यह कहना कि "आत्मवस्तुविषयक ज्ञानका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं मिलता" सर्वथा असङ्गत है] ॥ ८५ ॥

न च बाहुल्यं प्रामाण्ये कारणभावं प्रतिपद्यते। अत आह

यदि कोई शङ्का करे कि 'जिस विषयके प्रतिपादक वाक्य अधिक होंगे वे ही प्रमाण माने जाएँगे। जो अल्प हैं वह प्रमाण नहीं माने जा सकते। सुतरां कर्म-विधायक वाक्य अधिक हैं और ज्ञान विधायक वेदान्त वाक्य अत्यन्त ही अल्प हैं, अतः अनन्त कर्म-विधायक वाक्योंके बलसे थोड़ेसे ज्ञानविधायक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य भी कर्ममें ही मानना चाहिए। स्वतन्त्र आत्माका प्रतिपादन करनेमें नहीं।' तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि—

प्रामाण्याय न बाहुल्यं न ह्येकत्र प्रमाणताम्।
वस्तुन्यटन्ति मानानि त्वेकत्रैकस्य मानता ॥ ८६ ॥

वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध होनेके कारण उनको अपने विषयकी सिद्धिके लिये दूसरे अनुमोदक प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। यह कोई नियम नहीं है कि किसी एक विषयके प्रतिपादक वाक्य जबतक दूसरे वाक्य अनुमोदक न हों, प्रमाण ही नहीं हो सकते। और कर्मकाण्डमें भी तो एक-एक कर्ममें एक-एक वाक्यको ही प्रमाण मान लिया जाता है। कर्म अनेक हैं, इसलिए उनके प्रतिपादक वाक्य भी अनेक ही होने चाहिए। परन्तु आत्मा तो एकरूप है। अतएव अल्पसंख्यावाले भी वेदान्त-वाक्य उसके (आत्माके) ज्ञानके प्रतिपादनमें अधिक होंगे ॥ ८६ ॥

यत्तूक्तं 'यत्नतो वीक्षमाणोऽपीति' तत्राऽपि भवत एवाऽपराधः कस्मात्? यतः—

और पहले जो यह कहा था "यत्नसे देखनेपर भी वेदान्त-वाक्योंमें आत्मज्ञानका विधान नहीं मिलता, इसलिए वेदान्त वाक्य आत्मज्ञानमें प्रमाण नहीं हैं!" इसमें भी आपका ही अपराध है। क्योंकि—

'परीक्ष्य लोकान्' इत्याद्या आत्मज्ञान-विधायिनीः।
नैष्कर्म्यप्रवणाः साध्वीः श्रुतीः किं न शृणोषि ताः ॥ ८७ ॥

"कर्मोंसे सम्पादित भोग्य-विषयोंको अनित्य समझकर" इत्यादि कर्मफलोंको अनित्य और हेय बतलानेवाली, आत्मज्ञानके लिए आचार्यके समीप गमनका विधान करनेवाली और मोक्षका मार्ग बतलानेवाली पवित्र श्रुतियोंको क्या आप नहीं सुनते?

ननु 'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यपूर्वविधिश्रुतेः पुरुषस्याऽऽत्मदर्शनक्रियायां नियोगोऽवसीयत इति । नैवम् । अपुरुषतन्त्रत्वाद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानस्य सकलानर्थबीजात्मानवबोधोत्सारिणो मुक्तिहेतोरिति, विध्यभ्युपगमेऽपि नाऽपूर्वविधिरयम् । यत आह—

शङ्का—'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि अपूर्वविधिश्रुतियोंसे "यह समस्त संसार आत्मा ही है, ऐसी उपासना करो" "आत्माका दर्शन करना चाहिए" इस प्रकार पुरुषके लिए आत्मदर्शनरूप क्रियाकी विधि पाई जाती है। तब आप कैसे कहते हैं कि 'वेदान्तवाक्य क्रियापूरक नहीं हैं।'

उत्तर—यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि, विधि उसी विषयमें हो सकती है जिसके करने, न करने और अन्यथा (विपरीत) करनेमें पुरुष स्वतन्त्र हो। जैसे कि "(अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः) स्वर्गकी इच्छावाला पुरुष अग्निहोत्र द्वारा स्वर्गको प्राप्त करे।" इस विधिमें अग्निहोत्र करना पुरुषके अधीन है, वह चाहे उसे करे, या न करे अथवा विपरीत करे। परन्तु समस्त अनर्थोंके बीजोंका नाशक और मुक्तिका हेतु तत्त्वज्ञान तो पुरुषके अधीन नहीं है, किन्तु प्रमाण और प्रमेयके अधीन है [जैसे भाद्रपद शुक्ल चतुर्थीके दिन चन्द्रदर्शनका निषेध होनेपर भी चन्द्रका, चक्षुके साथ सम्बन्ध होनेपर, ज्ञान हो ही जाता है। किसीसे रुकता नहीं है।] अतएव उसमें विधिकी अपेक्षा नहीं है। यदि विधि मानी भी जाय तो अपूर्व विधि* नहीं मान सकते। यह बात अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

---

*अपूर्व, नियम और परिसङ्ख्या, इन भेदोंसे विधि तीन प्रकारकी है। (१) अपूर्वविधि—जिससे ऐसी कोई बात विधान की जाय, जो किसी दूसरे प्रकारसे प्राप्त न हो। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस श्रुतिसे स्वर्गाभिलाषियोंको अग्निहोत्र द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना बतलाया है। बिना इस वाक्यके स्वर्गाभिलाषी लोग अग्निहोत्रमें प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। इस वाक्यने स्वर्गाभिलाषियोंके लिए स्वर्गका एक नूतन साधन का विधान किया, इसलिए स्वर्गप्राप्तिके लिए यह अग्निहोत्रकी विधि 'अपूर्वविधि' है। (२) नियमविधि—जिससे, किसी कृत्यके दो प्रकार प्राप्त हों तो (उनमेंसे) एकका निषेध करके एकका विधान किया जाता है। जैसे—'व्रीहीनवहन्ति' यहाँ धानोंका तुषरहित करना प्रयोजन है। वह नख-विदलनादिसे (नाखूनोंसे) भी हो सकता है। परन्तु इस विधिसे नियम किया जाता है कि अवहनन (उलूखलमें कूटने) से ही धानोंको तुषरहित करना नखोंसे नहीं। (३) परिसङ्ख्या विधि—जिससे दो वस्तु प्राप्त हों तो एकका सर्वथा निषेध करना और दूसरेका विधान भी न करना। जैसे—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस विधिसे शशादिके भक्षणका विधान नहीं किया गया है।

नियमः परिसङ्ख्या वा विध्यर्थोऽत्र भवेद्यतः ।
अनात्माऽदर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे ॥ ८८ ॥

यहाँपर यदि विधि हो सकती है, तो नियम या परिसङ्ख्याविधि हो सकती है। क्योंकि अनात्म वस्तु जिस प्रकार ध्यानमें न आवे उस प्रकार हम परमात्माकी उपासना करते हैं ॥ ८८ ॥

यच्चोक्तं 'विश्वासो नान्यतोऽस्ति नः' इति, तदपि निद्रातुरचेतसा त्वया स्वप्नायमानेन प्रलपितम् । किं कारणम् ? न हि वयं प्रमाणबलेनैकात्म्यं प्रतिपद्यामहे । तस्य स्वत एवाऽनुभवमात्रात्मकत्वात् । अत एव सर्वप्रमाणावतारासम्भवं वक्ष्यति । प्रमाणव्यवस्थायाश्चाऽनुभवमात्राश्रयत्वात् । अत आह—

और जो आपने 'विश्वासो नाऽन्यतोऽस्ति नः' इत्यादि प्रकरणमें श्रुतिस्मृतिसे अन्य प्रमाणोंपर हमें विश्वास नहीं है, इत्यादि कहा, वह भी आपने ऊँघते ऊँघते स्वप्न देखते हुए प्रलाप किया है। (अर्थात् वह सब आपने हमारे सिद्धान्तको न समझकर ही कहा है।)

शङ्का—क्या कारण ?

उत्तर—हम लोग प्रमाणके बलसे, जीव-ब्रह्मकी एकताका स्थापन नहीं करते। क्योंकि वह तो स्वयं अनुभवरूप ही है। इसीलिए हम आगे जीव-ब्रह्मकी एकताके विषयमें कहेंगे कि जीव-ब्रह्मकी एकता किसी प्रमाणका प्रमेय नहीं। और जब प्रमाणोंकी सिद्धि ही अनुभवके अधीन है तो अनुभवरूप जीव-ब्रह्मकी एकताके साधक प्रमाण हो ही कैसे सकते हैं, इसलिए कहते हैं—

वाक्यैकगम्यं यद् वस्तु नाऽन्यस्मात्तत्र विश्वसेत् ।
नाऽप्रमेये स्वतःसिद्धेऽविश्वासः कथमात्मनि ॥ ८९ ॥

जो वस्तु केवल वाक्यमात्रसे ही जानी जा सकती हो उसके विषयमें तो मनुष्यको और किसी प्रकारसे विश्वास नहीं करना चाहिए। परन्तु जो स्वतः सिद्धतया समस्त प्रमाणोंका अविषय है, ऐसे आत्माके विषयमें मनुष्य कैसे विश्वास रहित हो सकता है ? ॥ ८९ ॥

यदप्युक्तमन्तरेण विधिमिति, तदप्यबुद्धिपूर्वकमिव नः प्रतिभाति । यस्मात् कालान्तरफलदायिषु कर्मस्वेतद् घटते आत्मलाभकाल एव फलदायिनि त्वात्मज्ञाने नैतत्समञ्जसमित्याह—

और जो आपने यह कहा था कि "जो बिना शास्त्र विधानके परलोकमें फलदेनेवाले कर्मोंको करता है, तो वे उसको फलदायक नहीं होते। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान

भी परलोकमें ही फलदायक है, सो वह भी विधिके बिना नहीं माना जा सकता।" यह भी बिना विचारे ही कहा जान पड़ता है। क्योंकि चिरकाल बीतनेपर फल देनेवाले कर्मोंमें यह नियम हो सकता है। परन्तु उत्पन्न होते ही फल देनेवाले आत्मज्ञानके विषयमें यह कदापि नहीं हो सकता। यही बात अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

ज्ञानात्फले ह्यवाप्तेऽस्मिन् प्रत्यक्षे भवघातिनि।
उपकाराय तन्नेति [1]तन्न्याय्यं भाति नो वचः॥ ९०॥

जब ज्ञानसे समस्त संसारको नष्ट करनेवाला कैवल्यरूप फल प्रत्यक्षमें होते देखा जाता है, तो फिर आपका यह कथन कि 'विधिके बिना आत्मज्ञान फलदायक नहीं होगा' प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेके कारण सर्वथा असङ्गत है॥ ९०॥

यदपि जैमिनीयं वचनमुद्घाटयसि तदपि तद्विवक्षापरिज्ञानादेवोद्भाव्यते[2]। किं कारणम्? यतो न जैमिनेरयमभिप्राय आम्नायः सर्व एव क्रियार्थ इति। यदि ह्ययमभिप्रायोऽभविष्यदथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, इत्येवमादिब्रह्मवस्तुस्वरूपमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपरं गम्भीरन्यायसंदब्धं सर्ववेदान्तार्थमीमांसनं श्रीमच्छारीरकं नाऽसूत्रयिष्यत्। असूत्रयच्च[3]। तस्माज्जैमिनेरेवाऽयमभिप्रायो गम्यते यथैव विधिवाक्यानां स्वार्थमात्रे प्रामाण्यमेवमैकात्म्यवाक्यानामप्यनधिगतवस्तुपरिच्छेद[4]-साम्यादिति। अत इदमभिधीयते।

और जो आप जैमिनिजीके वचनका प्रमाण देते हो वह भी उनके वचनके आशयको न समझ कर ही। क्योंकि जैमिनिका यह अभिप्राय ही नहीं है कि सम्पूर्ण वेद कर्मके ही प्रतिपादक हैं। यदि उनका यही अभिप्राय होता तो 'साधनचतुष्टय सम्पन्न अधिकारी पुरुषको ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए' और 'जिससे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वह ब्रह्म है' इत्यादि ब्रह्मवस्तुके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमें उपयोगी, गम्भीर-युक्तियोंसे परिपूर्ण तथा समस्त वेदान्तवाक्योंकी मीमांसा करनेवाले शारीरकसूत्रकी रचना महर्षि व्यास न करते। परन्तु रचना तो की है। इसलिए महर्षि जैमिनिजीका यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे विधिवाक्योंका उनके बोधित किए हुए अर्थमें प्रामाण्य है, इसी प्रकार जीव-ब्रह्मकी एकताके

१—न न्याय्यं भाति नो वचः, ऐसा भी पाठ है।

२—उद्घाट्यते, ऐसा भी पाठ है।

३—असूत्रयच्च तत्, भी पाठ है। भगवान् बादरायण इति शेषः।

४—परिच्छेदसामर्थ्यात्, भी पाठ है।

बोधक वेदान्त वाक्य भी उक्त ऐकात्म्यमें प्रमाण हैं। क्योंकि अज्ञात वस्तुका ज्ञापन कराना दोनोंमें समान ही है। इसलिए यह कहते हैं—

अधिचोदन[1]माम्नायस्तस्यैव स्यात्क्रियार्थता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां ब्रूत कर्मार्थता कथम् ॥ ९१ ॥

विधि-प्रकरणमें पढ़े हुए निष्फल अर्थवादादि वाक्य ही (विधिके अनुरोधसे) क्रियापरक होते हैं। परन्तु 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य, जब कि वे विधिके प्रकरणमें नहीं हैं और सार्थक हैं, किस प्रकार क्रियापरक हो सकते हैं, यह आप ही कहिए? ॥ ९१ ॥

अपि च, ऐकात्म्यपक्ष इवाऽदृष्टार्थकर्मसु भवत्पक्षेऽपि प्रवृत्तिर्दुर्लक्ष्या। यतः।

स्वर्गं यियासुर्जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
देहाद्व्युत्थापितस्यैवं कर्तृत्वं जैमिनेः कथम् ॥ ९२ ॥

और आपके पक्षमें भी तो जीवब्रह्मकी एकताके समान ही अदृष्ट फलवाले कर्मोंमें प्रवृत्ति होनी कठिन है। क्योंकि "स्वर्गको जानेकी इच्छा करनेवाला पुरुष यथाविधि अग्निहोत्रका अनुष्ठान करे" इस विधिके द्वारा देहसे भिन्न ज्ञात हुए आत्मामें जैमिनिजीके मतमें कर्तृत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? क्योंकि देहादिसे अतिरिक्त निरवयव आत्मामें क्रियाके न होनेसे कर्तृत्व नहीं है। तथा प्रयत्न भी अन्तःकरणका धर्म होनेसे आत्माका गुण नहीं है ॥ ९२ ॥

न च प्रत्याख्याताशेषशरीरादिकर्मसाधनस्वभावस्याऽऽत्ममात्रस्य कर्मस्वधिकारः। यस्मात्—

सर्वप्रमाणासम्भाव्यो [2]ह्यहंवृत्त्येकसाधनः।
युष्मदर्थमनादित्सुर्जैमिनिः प्रेर्यते कथम् ॥ ९३ ॥

समस्त शरीरादि साधनोंका त्याग कर देना ही जिसका स्वभाव है। अतएव जिसमें किसी धर्मका समावेश नहीं है। क्योंकि, जो सब प्रमाणोंका अगोचर, अहंकारवृत्तिमें अभिव्यक्त होनेवाला तथा अहंकारादि अनात्म वस्तुओंसे असंस्पृष्ट है; वह जैमिनिजीके शरीरमें रहनेवाला आत्मा विधिसे कैसे प्रेरित हो सकता है? ॥ ९३ ॥

प्रवृत्तिकारणाभावाच्च। यस्मात्।

१—अधिचोदनं य आम्नायः, भी पाठ है।
२—अहंवृत्त्यैकसाधनः, भी पाठ है।

सुखदुःखादिभिर्योग आत्मनो नाऽहमेक्ष्यते[1] ।
पराक्त्वात्प्रत्यगात्मत्वाज्जैमिनिः प्रेर्यते कथम् ॥ ९४ ॥

और प्रवृत्तिका कारण प्रयोजन भी नहीं है। क्योंकि सुखदुःखादिका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमें जिन सुखदुःखादिकी प्रतीति हो रही है, वे तो सब अन्तःकरणसे ही ज्ञात होते हैं। और सुखदुःखादि सब बाह्य हैं तथा आत्मा प्रत्यक्रूप है, अर्थात् सुखदुःखादि दृश्योंका द्रष्टा है। इस कारणसे भी जैमिनिके शरीरमें रहनेवाले आत्माकी प्रवृत्ति नहीं बन सकती ॥ ९४ ॥

किञ्च—

न तावद्योग एवाऽस्ति शरीरेणाऽऽत्मनः सदा ।
विषयैर्दूरतो नाऽस्ति स्वर्गादौ स्यात्कथं सुखम् ॥ ९५ ॥

और भी सुनिए! आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध किसी अवस्थामें जब नहीं है, तब विषयोंके साथ तो सुतरां नहीं है। फिर स्वर्गादि स्थानोंमें आत्माके सुखका सम्बन्ध किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? ॥ ९५ ॥

यस्मादन्यथा नोपपद्यते ।

नराभिमानिनं तस्मात् कारकाद्यात्मदर्शिनम् ।
मन्त्र आहोररीकृत्य "कुर्वन्नि"ति न निर्द्वयम् ॥ ९६ ॥

चूँकि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह मन्त्र और किसी प्रकारसे भी सङ्गत नहीं हो सकता, इसलिए जिनको मनुष्यत्वका अभिमान है तथा जो अपने आपको कर्त्ता भोक्ता आदि समझते हैं, उनके लिए ही उक्त मन्त्र समस्त आयुपर्यन्त कर्म करनेकी आज्ञा देता है। जो अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त हो गये हैं उनके लिए नहीं ॥ ९६ ॥

यच्चोक्तं 'विरहय्य' इति, तदपि न सम्यगेव। तथाऽपि तु न या काचित्क्रिया यत्र क्व चाऽध्याहरणीया, किन्तु या यत्राऽभिप्रेतसम्बन्धं घटयितुं शक्नोति आकाङ्क्षां च वाक्यस्य पूरयति सैवाऽध्याहरणीया। एवं विशिष्टा च क्रियाऽस्माभिरभ्युपगतैव। सा तूपादित्सितवाक्यार्थाविरोधिन्येव नाऽभूतार्थप्रादुर्भावफलेति। षड्भावविकाररहितात्मवस्तुनो निर्धूताशेषद्वैतानर्थस्याऽपराधीनप्रकाशस्य विजिज्ञापयिषितत्वादस्यस्मीत्यादिक्रियापदं स्वमहिमसिद्धार्थप्रतिपादनसमर्थमभ्युपगन्तव्यं नहि विपरीतार्थप्रतिपादनमिति।

१—नाहमेष्यते, भी पाठ है।

धावेदिति न दानार्थे पदं यद्वत्प्रयुज्यते ।
एधीत्यादि तथा नेच्छेत् स्वतः सिद्धार्थवाचिनि ॥ ९७ ॥

और जो पहले आपने यह कहा था कि 'क्रियापदके बिना कोई वाक्य ही नहीं बन सकता, इसलिए वेदान्तवाक्य भी क्रियाके प्रतिपादक हैं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि (यद्यपि वाक्य क्रियापदके बिना अपना स्वरूप लाभ नहीं कर सकता, तथापि) चाहे जहाँ, चाहे जिस किसी क्रियाका अध्याहार नहीं करना चाहिए। किन्तु जो क्रिया जहाँ ईप्सित अर्थके सम्बन्धको संघटित कर सकती हो, उसीका अध्याहार करना उचित है। ऐसी क्रियाको तो हम भी स्वीकार करते ही हैं। और वह क्रिया ईप्सित वाक्यार्थके अनुकूल है तथा मिथ्या अर्थकी साधिका भी नहीं है। यहाँ भी उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति, परिणति, क्षय और नाश—इन छः प्रकारके विकारोंसे रहित, द्वैतबुद्धिरूप अनर्थसे अत्यन्त पृथक् तथा स्वयम्प्रकाश आत्मरूप वस्तुका प्रतिपादन करना अभीष्ट है। इसलिए 'असि' (है), 'अस्मि' (हूँ) इत्यादि अपने माहात्म्यसे ही सिद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले क्रियापदोंका अध्याहार करना चाहिए। विरुद्धअर्थका प्रतिपादन करनेवालोंका नहीं। जिस प्रकार 'दानरूप' अर्थमें 'धावेत्—दौड़े', इस क्रियाका प्रयोग नहीं किया जा सकता है, इसी प्रकार स्वतःसिद्ध तथा वृद्ध्यादि विकारोंसे रहित आत्मवस्तुके प्रतिपादक वाक्योंमें 'एधि'—बढ़ो, इत्यादि विकार-प्रतिपादक क्रियाओंका प्रयोग नहीं होता ॥ ९७ ॥

न च यथोक्तवस्तुवृत्तप्रतिपादनव्यतिरेकेण तत्त्वमस्यादिवाक्यं[1] वाक्यार्थान्तरं[2] वक्तीति शक्यमध्यवसितुमित्याह—

'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्य पूर्वोक्त स्वतःसिद्ध, उत्पत्ति-क्षयसे रहित आत्म-स्वरूप वस्तुका प्रतिपादन नहीं करते। किन्तु "तदहमस्मि—वह मैं हूँ, ऐसी उपासना करे" ऐसी उपासना विधिका प्रतिपादन करते हैं, यह कहना भी युक्त नहीं है, यह बात कहते हैं—

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वतःसिद्धार्थबोधनात् ।
अर्थान्तरं न संद्रष्टुं शक्यते त्रिदशैरपि ॥ ९८ ॥

'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्योंका, स्वतःसिद्ध आत्मवस्तुका बोध करानेके अतिरिक्त और कोई अर्थ देवता लोग भी नहीं कर सकते ॥ ९८ ॥

यस्मादेवम्—

अतः सर्वाश्रमाणां तु वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
स्वनुष्ठितैर्न मुक्तिःस्याज्ज्ञानादेव हि सा यतः ॥ ९९ ॥

१—तत्त्वमसि वाक्यं, भी पाठ है।
२—वाक्यमर्थान्तरं वक्ति, भी पाठ है।

जब कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक वाक्योंका अर्थ ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादन करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। अतः सभी आश्रमवालोंकी मुक्ति वाणी, मन और शरीर द्वारा किए हुऐ कर्मोंसे नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो केवल ज्ञानसे ही होती है ॥ ९९ ॥

तस्माच्च कारणादेतदप्युपपन्नम्—

इस कारणसे भी यही उपपन्न (सिद्ध) हुआ कि

स्वमनोरथसङ्क्लृप्त-प्रज्ञाध्मातधियामतः ।
श्रोत्रियेष्वेव वाचस्ताः शोभन्ते नाऽऽत्मवेदिषु ॥ १०० ॥

अपने मनोरथोंसे कल्पित किये बनावटी विचारोंसे जिनकी बुद्धि परिपूर्ण है, ऐसे लोगोंकी, पीछे कही हुई ये सब बातें याज्ञिक लोगोंमें ही शोभा पाती हैं, ब्रह्मज्ञानियोंमें नहीं ॥ १०० ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीसुरेश्वराचार्यकृतनैष्कर्म्यसिद्धौ भाषानुवादसहिते प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

—:०:—

अथ द्वितीयोऽध्यायः

———:※:———

प्रत्यक्षादीनामनेवंविषयत्वात् तेषां स्वारम्भकविषयोपनिपातित्वात् । आत्मनश्चाऽशेषप्रमेयवैलक्षण्यात् सर्वानर्थैकहेत्वज्ञानापनोदिज्ञानदिवाकरोदयहेतुत्वं वस्तुमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपटीयसस्तत्त्वमस्यादेर्वचस एवेति बह्वीभिरुपपत्तिभिः प्रदर्शितम् । अतस्तदर्थाप्रतिपत्तौ यत्कारणं तदपनयनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते ।

प्रत्यक्ष (चक्षु) आदि प्रमाण अपने अपने कारण शब्दादिगुणयुक्त आकाशादिसे उत्पन्न होनेके कारण शब्दादि विषयोंको ही ग्रहण करते हैं। और आत्मा आकाशादिके समान नहीं है, किन्तु समस्त प्रमेय पदार्थोंसे वह विलक्षण ही है। इसलिए समस्त अनर्थोंके एकमात्र कारण अज्ञानका समूलोच्छेदन करनेवाले ज्ञानरूप सूर्योदयका कारण एवं वस्तुमात्रके स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त वाक्य ही है, इस बातको बहुत सी युक्तियोंसे सिद्ध किया। अब उसके अर्थको—आत्माको—न जाननेमें जो कारण हैं, उनको दूर करनेके लिए द्वितीय अध्यायका आरम्भ किया जाता है।

श्रावितो वेत्ति वाक्यार्थं न चेत्त्वमसीत्यतः ।
त्वं पदार्थानभिज्ञत्वादतस्तत्प्रक्रियोच्यते ॥ १ ॥

'त्वं' पदके अर्थका ज्ञान न होनेके कारण सुनानेपर भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका अर्थ समझमें नहीं आता। इसलिए 'त्वं' पदके अर्थका प्रतिपादन करते हैं ॥१॥

योऽयमहं ब्रह्मेति वाक्यार्थस्तत्प्रतिपत्तिर्वाक्यादेवेति प्रत्यक्षादीनामनेवंविषयत्वात्, इत्यवादिषम्, तस्य विशुद्ध्यर्थमनैकान्तिकत्वं पूर्वपक्षत्वेनोपस्थाप्यते[1] ।

यह जो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका ज्ञान है, वह वाक्य से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि चक्षु आदि—प्रत्यक्षादि—प्रमाण उसको विषय नहीं कर सकते, ऐसा पहले कहा गया है। अब उसकी पुष्टि (परीक्षा) करनेके लिए 'वाक्यके बिना भी ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, इसलिए वाक्य नियतरूपसे ज्ञान उत्पन्न नहीं करता' इस प्रकारका पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हैं।

कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ च कश्चिदाप्नोति निर्वृतिम् ।
श्रुतवाक्यस्मृतेश्चाऽन्यः स्मार्यते च वचोऽपरः ॥ २ ॥

कोई शुद्धमति महात्मा तो सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंकी निवृत्ति होने पर, भेदक उपाधिके न रहनेसे, वाक्योपदेशके बिना ही एकतारूप मोक्षको प्राप्त होते हैं और कोई सुने हुए वाक्योंका स्मरण करके, और कोई लोग आचार्योंके वाक्यों द्वारा स्मरण कराए जानेपर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार समझकर, मुक्त होते हैं। (इन तीन उदाहरणोंमें से प्रथम उदाहरणमें तो ज्ञान होनेके लिए वाक्यकी कोई आवश्यकता ही नहीं है और अन्य दो उदाहरणोंमें भी वाक्यके स्मरण या स्मारणकी ही आवश्यकता है, वाक्य की नहीं। इससे यह जान पड़ता है कि वाक्य ज्ञानोत्पत्तिका नियत कारण नहीं है) ॥२॥

एतत्प्रसङ्गेन श्रोत्रन्तरोपन्यासमुभयत्राऽपि सम्भावनायाऽऽह—

वाक्यके बिना भी ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहा। अब इसी प्रसङ्गमें वाक्य नियतरूपसे ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, यह दिखानेके लिए दूसरे प्रकारके श्रोताओंका उदाहरण देकर कहीं कहीं वाक्यसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहते हैं—

वाक्यश्रवणमात्राच्च पिशाचकवदाप्नुयात् ।
त्रिषु यादृच्छिकी सिद्धिः स्मार्यमाणे[2] तु निश्चिता ॥ ३ ॥

जब श्रीकृष्ण अर्जुनको ज्ञानोपदेश दे रहे थे, तब वे वाक्य किसी पिशाचने भी सुन लिए। उसको उन वाक्योंके श्रवणमात्रसे ही ज्ञान हो गया। इस प्रकार

१—उत्थाप्यते, पाठ भी है। २—स्मर्यमाणे, भी पाठ है।

किसीको वाक्यके श्रवणमात्रसे ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन कई प्रकारसे ज्ञान करनेवालोंमेंसे स्वयमेव अनात्मवस्तुकी निवृत्तिसे जिसको ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसे विराट् और वाक्यके स्मरणसे ज्ञान प्राप्त करनेवाले भृगु एवं वाक्यश्रवणमात्रसे ज्ञान प्राप्त करनेवाला पिशाच—इन तीनोंकी सिद्धि यादृच्छिक अर्थात् अनिश्चित है। परन्तु गुरुने जिसको वाक्यार्थका स्मरण कराया है ऐसे श्वेतकेतुकी सिद्धि निश्चित है। (इसलिए ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करनेमें 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्य निश्चित कारण नहीं हैं, किन्तु सुने हुए वाक्यका स्मरण कराया जाना ही निश्चित कारण है।) ॥ ३ ॥

नाऽयमनैकान्तिको हेतुर्यतः—

सर्वोऽयं महिमा ज्ञेयो वाक्यस्यैव यथोदितः।
वाक्यार्थं न ह्यृते वाक्यात्कश्चिज्जानाति तत्त्वतः ॥ ४ ॥

[अब इस शङ्काके समाधानके लिए सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं—]

ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिमें वेदान्तवाक्य अनिश्चित हेतु नहीं हैं, क्योंकि पूर्वोक्त यह सब माहात्म्य वाक्यका ही जानना चाहिए। इसमें कारण यह है कि कोई भी वाक्यके बिना वाक्यार्थको यथार्थरूपसे नहीं जान सकता। ॥ ४ ॥

वाक्यं च प्रतिपादनाय प्रवृत्तं सत्प्रतिपादयत्येव, सर्वप्रमाणानामप्येवंवृत्तत्वात्[1]।

और यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनुमोदक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है, इसलिए वाक्य स्वार्थका निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि अपने विषयोंका अवबोधन करानेके लिए प्रवृत्त हुए प्रमाण बिना अनुमोदक प्रमाणोंके भी अपने विषयोंका निश्चय कराते हुए देखे जाते हैं।

[और यदि यह प्रश्न किया जाय कि हम "अनुमोदक प्रमाणान्तर नहीं है इसलिए वाक्य प्रतिपादन नहीं कर सकता" ऐसा नहीं कहते, किन्तु जीव ब्रह्मकी एकतारूप अर्थ प्रमाणान्तरोंसे विरुद्ध है। इसलिए वाक्य प्रमाण नहीं बन सकते ? तो इस शङ्काका परिहार करते हैं—]

नाऽहंग्राह्ये न तद्धीने न प्रत्यङ् नाऽपि दुःखिनि।
विरोधः सदसीत्यस्माद् वाक्याभिज्ञस्य जायते ॥ ५ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके जो विषय हैं उनके साथ तो ब्रह्मका अभेद श्रुति प्रतिपादन नहीं करती, तब विरोध कहाँसे उपस्थित होगा ? जैसे—मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार

१—एवं प्रवृत्तत्वात्, भी पाठ है।

अहंप्रत्ययके विषय शरीरमें विरोध बुद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि वह त्वं पदका लक्ष्य ही नहीं है। इसलिए उसका तत्पदके साथ अभेद नहीं बनता तो न बने, उससे कोई विरोध नहीं। तथा 'मैं' आँखसे देखता हूँ, कानसे सुनता हूँ, इस प्रकार जिन इन्द्रियोंमें यह विषय ग्रहण करनेके साधन मात्र हैं, ऐसा अनुभव हो रहा है, उनसे "मैं" इस ज्ञानके विषय होनेपर भी कोई विरोध नहीं। क्योंकि उन इन्द्रियोंके साथ 'तत्'पदार्थकी एकता नहीं मानते हैं। इसी प्रकार शुद्ध 'त्वम्' पद-लक्ष्य—आत्माका 'तत्' पद-लक्ष्य—ब्रह्मके साथ एकत्व होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। और सुखदुःखविशिष्ट अन्तःकरणसे युक्त जीवके साथ तत्पदलक्ष्य ब्रह्मका एकत्व नहीं माना गया है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यका तात्पर्य जाननेवाले पुरुपको 'मैं' इस प्रत्ययसे ग्राह्य शरीर, इस प्रत्ययके विषय न होनेवाले इन्द्रियादि, प्रत्यगात्मा और सुखदुःखादि विशिष्ट अन्तःकरण, इन चारों पदार्थोंमें विरोध बुद्धि नहीं होती ॥ ५ ॥

नाऽविरक्तस्य संसारान्निर्विवृत्सा ततो भवेत् ।
न चाऽनिवृत्ततृष्णस्य पुरुषस्य मुमुक्षुता ॥ ६ ॥

जो पुरुष संसारसे विरक्त नहीं है, उसे संसारसे निवृत्त होनेकी इच्छा नहीं होती। और जिसकी तृष्णा शान्त नहीं हुई है, उसको मोक्षकी इच्छा भी नहीं होती ॥ ६ ॥

[यहाँपर यह शङ्का होती है कि 'यदि वाक्य अपना अर्थ प्रतिपादन करनेके लिए दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं करता और प्रमाणान्तरका विरोध भी नहीं है, तो फिर वाक्यका श्रवण करते ही सभीको क्यों नहीं ज्ञान उत्पन्न होता? इसका उत्तर 'जो ब्रह्म-ज्ञानके साधन वैराग्य आदिसे युक्त हैं, उन्हींको ज्ञान उत्पन्न होता है' इस प्रकारसे अग्रिम श्लोकसे देते हैं।]

न चाऽमुमुक्षोरस्तीह गुरुपादोपसर्पणम् ।
न विना गुरुसम्बन्धं वाक्यस्य श्रवणं भवेत् ॥ ७ ॥

जो मुमुक्षु नहीं है, वह पुरुष गुरुचरणोंके समीप नहीं पहुँचता और बिना गुरुचरणोंके समीप पहुँचे वेदान्त-वाक्यका श्रवण नहीं होता है ॥ ७ ॥

तथा पदपदार्थौ च न स्तो वाक्यमृते क्वचित् ।
अन्वयव्यतिरेकौ च तावृते स्तां किमाश्रयौ ॥ ८ ॥

और वाक्यके बिना पद-पदार्थ कहीं नहीं रह सकते हैं एवं पदपदार्थोंके बिना अन्वय और व्यतिरेक भी किसके सहारे रह सकेंगे ॥ ८ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना वाक्यार्थबोधनम् ।
न स्यात्तेन विना ध्वंसो[1] नाऽज्ञानस्योपपद्यते ॥ ९ ॥

१—नाशो नाज्ञानस्योपजायते, ऐसा तथा 'ज्ञानप्रहाणं नोपपद्यते, भी पाठ है।

अन्वय-व्यतिरेकके बिना वाक्यार्थका ज्ञान नहीं हो सकता और वाक्यार्थज्ञानके बिना अज्ञानका नाश नहीं हो सकता है ॥ ९ ॥

विनाऽज्ञानप्रहाणेन पुरुषार्थः सुदुर्लभः ।
तस्माद्यथोक्तसिद्ध्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥ १० ॥

बिना अज्ञानकी निवृत्ति हुए पुरुषार्थका लाभ अत्यन्त दुर्लभ है । इसलिए पूर्वोक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिए, अन्वय-व्यतिरेकसे त्वं पदार्थका स्पष्टीकरण करनेके लिए, अग्रिम ग्रन्थका प्रारम्भ करते हैं ॥ १० ॥

वर्चस्कं[1] त्वन्नकार्यत्वाद्यथानाऽत्मेति गम्यते ।
तद्भागः सेन्द्रियो देहस्तद्वत्किमिति नेक्ष्यते[2] ॥ ११ ॥

जैसे शरीरका मल अन्नका परिणाम होनेके कारण स्पष्ट ही अनात्मा है । वैसे ही इन्द्रियोंके सहित शरीर भी अन्नका ही परिणाम होनेके कारण अनात्मा है, ऐसा क्यों नहीं अनुमानसे निश्चय करते ? ॥ ११ ॥

आद्यन्तयोरनात्मत्वे प्रसिद्धे मध्ये[3] कः प्रतिबन्धः ।

जब आदि और अन्तमें अनात्मपन प्रसिद्ध है, तो मध्यमें उसे अनात्मा माननेमें क्या रुकावट है ?

प्रागनात्मैव जग्धं सदात्मतामेत्यविद्यया ।
स्रगालेपनवद्देहं तस्मात्पश्येद्विरक्तधीः[4] ॥ १२ ॥

भक्षणके पहले अन्न अनात्मा है, खा लेनेपर अविद्याके कारण वह आत्मा प्रतीत होने लगता है । इसलिए विवेकी पुरुषको माला, चन्दन इत्यादि वस्तुओंके समान ही देहको भी (अनात्मा) समझना चाहिए ॥ १२ ॥

अथैवमपि मद्वचनं नाऽऽद्रियसे स्वयमेवैतस्माच्छरीरादशुचिराशेर्निराशो भविष्यसि ।

इतना कहनेपर भी यदि आप मेरे वचनपर श्रद्धा नहीं करते तो स्वयं ही इस अपवित्रताकी खान शरीरसे निराश[5] हो जाओगे ।

१—वर्चस्कमन्नकार्यत्वात्, भी पाठ मिलता है ।

२—नेक्ष्यते = नानुमीयते, देहेन्द्रियादि नात्मरूपम्, अन्नकार्यत्वात्, पुरीषवत्, इति प्रयोगः ।

३—मध्येऽपि कः प्रतिबन्धः, भी पाठ है ।

४—विविक्तधीः, भी पाठ है ।

५—वियुक्त, अर्थात् उसमें अभिमान शून्य ।

मन्यसे तावदस्मीति यावदस्मान्न नीयसे।
श्वभिः क्रोडीकृते देहे नैवं त्वमभिमंस्यसे ॥ १३ ॥

तभीतक आप इस शरीरमें अहंबुद्धि कर सकते हैं जबतक कि इससे निकलते नहीं। जहाँ आप इस शरीरसे निकले तभी इसपर कुत्ते आक्रमण करेंगे और फिर आपका इसपर किञ्चिन्मात्र भी अभिमान न रह जायगा ॥ १३ ॥

शिर आक्रम्य पादेन भर्त्सयत्यपरान् शुनः।
दृष्ट्वा साधारणं देहं कस्मात्सक्तोऽसि तत्र भोः ॥ १४ ॥

जिस शरीरपर आप इस समय बड़ा अभिमान करते हो, उसी शरीरके शिरपर पैर रखकर, आपके त्याग देनेके पश्चात्, कुत्ता अभिमान करेगा और दूसरे कुत्ते जो उसको लेना चाहेंगे उनको झिड़केगा। अरे मित्र! ऐसे साधारण शरीरमें क्यों फँस रहे हो? ॥ १४ ॥

श्रुतिप्रतिपादितोऽयमर्थोऽनात्मा बुद्ध्यादिर्देहान्त इतीदमाह।

बुद्धिसे लेकर देह पर्यन्त सब वस्तु अनात्मा है, यह बात श्रुतिसे भी सिद्ध है। यह अग्रिम श्लोकसे कहते हैं—

बुसव्रीहिपलालांशैर्बीजमेकं त्रिधा यथा।
बुद्धिमांसपुरीषांशैरन्नं तद्वदवस्थितम् ॥ १५ ॥

जैसे एक ही बीज भूसी, चावल और पलाल इन तीन अंशोंमें परिणत होता है। वैसे ही खाया हुआ अन्न बुद्धि (मन); मांस और मल इन तीन अंशोंमें परिणत होता है ॥ १५ ॥

यथोक्तार्थप्रतिपत्तौ सत्यां न रागद्वेषाभ्यां विक्रियते विपश्चिदित्यस्याऽर्थस्य प्रतिपत्तये दृष्टान्तः।

पूर्वोक्त अर्थको यथावत् जान लेनेपर अर्थात् देहादिमें आत्मत्वाभिमानकी निवृत्ति हो जानेसे आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर विद्वान् पुरुष रागद्वेषसे अभिभूत नहीं होता। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए दृष्टान्त देते हैं—

वर्चस्के सम्परित्यक्ते दोषतश्चाऽवधारिते।
यदि दोषं वदेत्तस्मै किं तत्रोत्सरितुर्भवेत् ॥ १६ ॥
तद्वत् सूक्ष्मे तथा स्थूले देहे त्यक्ते विवेकतः।
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं तत्र विदुषो भवेत् ॥ १७ ॥

जिस मलको वास्तवमें दोषयुक्त समझकर त्याग दिया है, उसको यदि कोई दोष देने लगे (उसकी निन्दा करने लगे), तो क्या वह दोष मलत्याग करनेवालेको लगेगा ? इसी प्रकार जिसने विवेकसे स्थूल और सूक्ष्म शरीरका त्याग कर दिया है, उससे अभिमान हटा लिया है, उस विद्वान्के शरीरमें यदि कोई मनुष्य दोष निकाले तो इससे विद्वान्का क्या बिगड़ता है ॥ १६-१७ ॥

एतावदेव ह्यहं ब्रह्माऽस्मीति वाक्यर्थाप्रतिपत्तौ कारणं यदुत[1] बुद्ध्यादौ देहान्ते ह्यहं ममेति निःसन्धिबन्धनो ग्रहस्तद्व्यतिरेके हि न कुतश्चिद्विभज्यत एकल एव प्रत्यगात्मन्यवतिष्ठत इत्याह ।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानके उत्पन्न होनेमें रुकावट केवल यही है कि बुद्धिसे लेकर देह पर्य्यन्त वस्तुओंमें 'मैं और मेरा' इस प्रकारका निःसन्धि—निरन्तर—अर्थात् जिसमें बाधक ज्ञान बीचमें नहीं है ऐसा, आग्रह (निश्चय) होना । इस अहं मम अभिमानके निवृत्त होनेसे फिर वह पुरुष किसी पदार्थसे भी अपनेको पृथक् नहीं समझता, किन्तु अद्वितीय प्रत्यगात्मामें ही उसकी स्थिति होती है । यह बात कहते हैं—

रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः[2] कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ १८ ॥

शत्रु, मित्र और अपने देहमें सम एक आत्माको देखनेवाले विवेकी पुरुषको कोप कैसे होगा ? जैसे कि अपने देहके अङ्गोंका अपने ही देहके अङ्गोंसे सङ्घर्ष (अभिघात) होनेसे किसीको भी क्रोध नहीं उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

इतश्चाऽनात्मा देहादिः ।

और देहादिके अनात्मा होनेमें यह भी कारण है कि—

घटादिवच्च दृश्यत्वात्तैरेव करणैर्दृशेः ।
स्वप्ने चाऽनन्वयाज्ज्ञेयो देहोऽनात्मेति सूरिभिः ॥ १९ ॥

देह घटादिके समान दृश्य है (यदि वह आत्मरूप होता तो दृश्य नहीं होता ।) और पदार्थोंका आलोचन करनेके लिए जीवात्माके साधनरूप इन्द्रियोंके साथ शरीरका सम्बन्ध सब कालमें नहीं रहता, इससे इन्द्रियाँ भी आत्मरूप नहीं हैं । यदि वे आत्मरूप होती तो सब कालमें विषयोंका ग्रहण करतीं । परन्तु स्वप्नावस्थामें देखा जाता है कि बिना इन्द्रियोंकी सहायताके विषयोंका ग्रहण होता है । इससे विद्वानोंको निश्चय कर लेना चाहिए कि देह और इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, (किन्तु जाग्रत् अवस्थामें विषयोंका ग्रहण करनेके लिए आत्माके साधनमात्र हैं ।) ॥ १९ ॥

१—यदुक्तबुद्ध्यादौ, ऐसा भी पाठ है ।
२—विवेकिनः पुनः कोपः, भी पाठ है ।

देहादिकार्यकरण[1]-सङ्घातव्यतिरेकाव्यतिरेकदर्शिनः प्रत्यक्षत एव विरुद्धं कार्यमुपलभ्यते ।

देहेन्द्रियादि कार्यकरण सङ्घातसे अपनेको भिन्न समझनेवालों और अभिन्न समझनेवालोंके कार्य भी प्रत्यक्षसे ही विरुद्ध देखे जाते हैं ।

चतुर्भिरुह्यते यत्तत्सर्वशक्त्या शरीरकम् ।
तूलायते तदेवाऽहंधियाऽऽध्मातमचेतसाम्[2] ॥ २० ॥

जिस शरीरपर अहंबुद्धिके न रहनेपर [मरनेके अनन्तर] चार आदमी उसे बड़ी कठिनतासे उठा सकते हैं, उसी शरीरको, निर्बुद्धि लोग 'मैं यह देह ही हूँ' ऐसा समझते हुए, तूलके समान लिए फिरते हैं (स्वदेह और परदेह इनमें कोई भेद नहीं है, केवल अहंबुद्धिमात्रसे ही स्वदेहका भार हम लोगोंको नहीं होता । इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है ।) ॥ २० ॥

प्रसिद्धत्वात्प्रकरणार्थोपसंहारायाऽऽह ।

चार्वाकको छोड़कर बाँकी सब वादियोंके मतमें स्थूल देहसे आत्माका भेद सिद्ध ही है । इसलिए प्रकरणाथका उपसंहार करते हैं—

स्थूलं युक्त्या निरस्यैवं नभसो नीलतामिव ।
देहं सूक्ष्मं निराकुर्यादतो युक्तिभिरात्मनः ॥ २१ ॥

जिस प्रकार आकाशमें नीलिमाका सर्वथा अभाव है, इसी प्रकार स्थूल शरीरमें भी आत्मपनका सर्वथा अभाव है । ऐसा निश्चय करके (तदनन्तर) युक्तियोंके द्वारा सूक्ष्म देहमें भी आत्मपनका निराकरण करना चाहिए ॥ २१ ॥

कथं देहं सूक्ष्मं निराकुर्यादिति ? उच्यते ।

सूक्ष्म देहसे आत्मबुद्धिका निराकरण किस प्रकारसे करना चाहिए, यह कहते हैं—

अहंममत्वयत्नेच्छा नाऽऽत्मधर्माः कृशत्ववत् ।
कर्मत्वेनोपलभ्यत्वादपायित्वाच्च वस्त्रवत् ॥ २२ ॥

जिस प्रकार कृशता, स्थूलता आदि स्थूल शरीरके धर्म हैं, आत्माके नहीं । इसी प्रकार अहङ्कार, ममता, यत्न, इच्छा आदि भी सूक्ष्म शरीरके धर्म हैं, आत्माके नहीं, क्योंकि ये सब वस्त्रादिकी भाँति आत्माके दृश्य हैं और आगमापायी हैं ॥ २३ ॥

वैधर्म्ये दृष्टान्तः—

१—कार्यकारण, ऐसा भी पाठ मिलता है ।

२—धियाध्मातम्, और 'अमेधसाम्' भी पाठ मिलता है ।

यदि अहङ्कार आदि आत्माके धर्म होते तो वे उसके दृश्य न होते। जो जिसका धर्म होता है वह उसका दृश्य नहीं होता। इस विषयमें (एक) दृष्टान्त देते हैं—

नोष्णिमानं दहत्यग्निः स्वरूपत्वाद्यथा ज्वलन्।
तथैवाऽऽत्माऽऽत्मनो विद्यादहं नैवाऽविशेषतः ॥ २३ ॥

जैसे जलता हुआ अग्नि अपनी स्वरूपभूत उष्णताको, उसका ही स्वरूप होनेके कारण, नहीं जला सकता है। वैसे ही यदि अहङ्कार आदि आत्मस्वरूप या आत्माके धर्म होते, तो आत्मासे वे प्रकाशित न होते। प्रकाशित तो वे होते हैं। इससे सिद्ध है कि वे अनात्मा हैं ॥ २३ ॥

एकस्याऽऽत्मनः कर्मकर्तृभावः सर्वथा नोपपद्यते, इति श्रुत्वा मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठते। अहंप्रत्ययग्राह्यत्वाद् ग्राहक[1] आत्मेति। तन्निवृत्त्यर्थमाह।

एक ही आत्मामें कर्मकर्तृभाव सर्वथा नहीं बन सकता। इस बातको सुनकर मीमांसक लोग शङ्का करते हैं कि—'एक ही आत्मा 'अहं' इस ज्ञानका विषय होनेके कारण कर्म है और इसका प्रकाशक होनेके कारण कर्ता है। इस प्रकार एक ही आत्मामें कर्मकर्तृभाव यथावत् हो सकता है।' इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—

यत्कर्मको हि यो भावो नाऽसौ तत्कर्तृको यतः[2]।
घटप्रत्ययवत्तस्मान्नाऽहं स्याद् द्रष्टृकर्मकः ॥ २४ ॥

जिस क्रियाका जो कर्ता है, वह उसीका कर्म नहीं होता। जैसे घटके ज्ञानमें घट कर्म है, अर्थात् विषय है, तो वह उसके ज्ञानमें कर्ता नहीं हो सकता है। वैसे ही 'अहम्' यह ज्ञान आत्म-विषयक नहीं होता। क्योंकि उसमें वह कर्ता है ॥ २४ ॥

अत्राऽऽह, प्रत्यक्षेणाऽऽत्मनः कर्मकर्तृत्वाभ्युपगमे तत्पादोपजीविनाऽनुमानेन प्रत्यक्षोत्सारणमयुक्तमिति चोद्यम्। तन्निराकरणाय प्रत्यक्षोपन्यासः।

इस पर कोई लोग कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष प्रमाणसे जब आत्मामें कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों सिद्ध हैं, फिर आप प्रत्यक्षके अनुयायी अनुमानसे प्रत्यक्षका बाध कैसे कर सकते हो'? इस शङ्काका समाधान करनेके लिए कहते हैं—

१—ग्राह्यग्राहक ऐसा पाठ भी है।

२—मतः, भी पाठ है।

यत्र यो दृश्यते द्रष्टा तस्यैवाऽसौ गुणो न तु ।
द्रष्टृस्थो[1] दृश्यतां यस्मान्नैवेयाद्द्रष्टृबोधवत् ॥ २५ ॥

जिस अन्तःकरणमें जो 'अहम्' (मैं) यह ज्ञान साक्षीसे भासित होता है, वह ज्ञान उसी अन्तःकरणका धर्म (परिमाण) है, साक्षीका नहीं। यदि ऐसा न होता तो द्रष्टाके स्वरूपभूत ज्ञानके समान, वह भी साक्षीसे प्रकाशित नहीं होता ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षेणैव भवदभिमतस्य[2] प्रत्यक्षस्याऽऽभासीकृतत्वात्सुस्थमेवाऽनुमानम् । अतस्तदेव प्रक्रियते । तत्र च विकल्पदूषणाभिधानम्[3] ।

प्रत्यक्षसे ही आपका अभीष्ट है। प्रत्यक्ष दोषयुक्त सिद्ध हो गया है और पूर्वोक्त अनुमान दोष रहित स्थित है। इसलिए पुनः उसीका खण्डन करते हैं। वहाँपर दो कोटियाँ करके दोष दिखलाते हैं—

नाऽऽत्मना न तदंशेन गुणः स्वस्थोऽवगम्यते ।
अभिन्नत्वात्समत्वाच्च निरंशत्वादकर्मतः ॥ २६ ॥

आत्मा अपने गुणको स्वयं अथवा अपने अंशसे ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि वह किसीसे भिन्न नहीं है, सर्वत्र सम है, उसका कोई अंश नहीं है और वह कभी किसीका कर्म नहीं होता ॥ २६ ॥

न युगपन्नाऽपि क्रमेणोभयथा चैकस्य धर्मिणो ग्राह्यग्राहकत्वमुपपद्यत इति प्रतिपादनाय आह—

एक ही धर्मीमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व न एक कालमें और न क्रमसे ही रह सकते हैं, इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—

द्रष्टृत्वेनोपयुक्तत्वात्तदैव स्यान्न दृश्यता ।
कालान्तरे चेद् दृश्यत्वं न ह्यद्रष्टृकमिष्यते ॥ २७ ॥

जिस कालमें आत्मा द्रष्टा है, उसी कालमें तो वह दृश्य हो ही नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि कालान्तरमें दृश्य हो जायगा, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उस समयमें द्रष्टा कोई नहीं होगा, तब फिर दृश्य किसका ? क्योंकि दृश्य तो द्रष्टाके बिना होता ही नहीं ॥ २७ ॥

१—द्रष्टृस्थं दृश्यतां, ऐसा भी पाठ मिलता है।
२—प्रत्यक्षेणाभिमतस्य, ऐसा भी पाठ है।
३—विकल्प्य दूषणाभिधानम्, भी पाठ है।

सन्तु काममनात्मधर्मा ममत्वादयोऽप्युक्तन्यायबलात्,[1] अनात्मतयैव च तेषु व्यवहारात्। अहंरूपस्य तु प्रत्यगात्मसम्बन्धितयैव[2] प्रसिद्धेः, अहं ब्रह्मास्मीति श्रुतेश्चानात्मधर्मत्वमयुक्तमिति चेत्, तन्न।

शङ्का—अस्तु, ममता, प्रयत्न, इच्छा आदि धर्म उक्त युक्तियोंके बलसे चाहे अनात्माके धर्म सिद्ध हों जाएँ। क्योंकि उनमें व्यवहार भी अनात्माके समान ही होता है। परन्तु अहङ्कार तो आत्मरूपसे ही प्रसिद्ध है और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस श्रुतिमें भी 'अहम्' इस शब्दसे आत्माका ही ग्रहण प्रतीत होता है। इसलिए अहंकारको अनात्मा कहना अयुक्त है। समाधान—

अहंधर्मस्त्वभिन्नश्चेदहंब्रह्मेति वाक्यतः।
गौरोऽहमित्यनैकान्तो वाक्यं तद्व्यपनेत् तत् ॥ २८ ॥

यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस वाक्यसे अहंकार और ब्रह्मका अभेद बोधित होता है तो 'मैं गौर (गोरा) हूँ' इस वाक्यसे भी गौरवर्णके साथ आत्माका अभेद हो जायगा ? क्योंकि 'मैं गौर (गोरा) हूँ' यह वाक्य भी लोकमें प्रयुक्त होता है। परन्तु गौर वर्णका आत्माके साथ अभेद तो नहीं होता है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इससे भी अहङ्कार और ब्रह्मका अभेद नहीं बोधित होता, किन्तु अहङ्कारका बोध होता है। अर्थात् 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस वाक्यका यह अर्थ होता है कि 'मैं अहङ्कार नहीं, किन्तु ब्रह्म हूँ' ॥२८॥

कथं वाक्यं तद्व्यपनेत् तदिति उच्यते—

'अहं ब्रह्माऽस्मि' यह वाक्य किस प्रकार अहङ्कारका बाधक होता है, यह बतलाते हैं—

योऽयं स्थाणुः पुमानेषः पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्माऽस्मीतिधियाऽशेषामहं बुद्धिं निवर्तयेत्[3] ॥ २९ ॥

जैसे पुरुषमें भ्रमसे उत्पन्न हुई स्थाणु बुद्धि 'यह पुरुष है' इस प्रकारके ज्ञानसे बाधित हो जाती है। वैसे ही 'मैं अहङ्कार हूँ' इस बुद्धिको 'मैं अहङ्कार नहीं, किन्तु ब्रह्म हूँ' इस बुद्धिसे निवृत्त करना चाहिए ॥ २९ ॥

अहंपरिच्छेदव्यावृत्तौ[3] न किञ्चिदव्यावृत्तं द्वैतजातमवशिष्यते, द्वितीयसम्बन्धस्य तन्मूलत्वादत आह—

१—यथोक्तन्यायबलात्, भी पाठ है।

२—प्रत्यगात्मतयैव, भी पाठ है।

३—निवारयेत्। ऐसा तथा 'अशेषा ह्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते, भी पाठ है।

'अहम्' इस प्रकारके ज्ञानसे, अहंबुद्धिसे अर्थात् अहंकारसे होनेवाले भेदग्रहकी निवृत्ति होनेपर कोई भी द्वैत निवृत्त होनेके लिए अवशिष्ट नहीं रहता। क्योंकि द्वैतके सम्बन्धका मूल कारण यह अहंबुद्धि ही है। यह बात कहते हैं—

निवृत्तायामहंबुद्धौ ममधीः प्रविलीयते।
अहंबीजा हि सा[1] सिद्ध्येत्तमोऽभावे कुतः फणी ॥ ३० ॥

अहंबुद्धि ही ममताका क्षेत्र है। इसलिए अहङ्कारके निवृत्त हो जानेपर ममता भी लय हो जाती है। क्योंकि जब रज्जुमें सर्पका भ्रम होनेका बीज—अन्धकार—ही नहीं रहा, तो फिर उसमें सर्पका भ्रम हो ही कैसे सकता है ॥ ३० ॥

विवक्षितदृष्टान्तांशज्ञापनाय दृष्टान्तव्याख्या—

उक्त दृष्टान्तके विवक्षित अंशको जनानेके लिए दृष्टान्तकी व्याख्या करते हैं—

तमोभिभूतचित्तो हि रज्ज्वां पश्यति रोषणम्।
भ्रान्त्या भ्रान्त्या विना तस्मान्नोरगं स्रजि वीक्षते ॥ ३१ ॥

अज्ञानसे आच्छादित चित्तवाला मनुष्य भ्रान्तिसे रज्जुमें सर्पको देखता है और जब भ्रान्ति नहीं रहती, तब वह मनुष्य रज्जु अथवा मालामें सर्पको नहीं देखता[2] ॥ ३१ ॥

अनन्वयाच्च नाऽऽत्मधर्मोऽहङ्कारः।

आत्माके साथ अनुगत न होनेके कारण भी अहङ्कार आत्माका धर्म नहीं हो सकता।

आत्मनश्चेदहं धर्मो यायान्मुक्तिसुषुप्तयोः[3]।
यतो नाऽन्वेति तेनाऽयमन्यदीयो भवेदहम् ॥ ३२ ॥

यदि अहङ्कार आत्माका धर्म होता तो वह मुक्ति और सुषुप्ति अवस्थामें भी आत्माके साथ अनुगत रहता। परन्तु मुक्ति और सुषुप्तिमें वह आत्माके साथ अनुगत नहीं पाया जाता। इसलिए अहङ्कार किसी औरका ही धर्म है, आत्माका नहीं ॥ ३२ ॥

आत्मधर्मत्वाभ्युपगमेऽपरिहार्यदोषप्रसक्तिश्च।

और अहङ्कारको आत्माका धर्म माननेपर और भी अनेक अपरिहार्य दोष आ जाएँगे।

१—संसिध्येत्, ऐसा भी पाठ है।

२—अर्थात् जैसे मालामें सर्पकी प्रतीति भ्रान्तिसे होती है वैसे ही आत्मामें अहंकारकी प्रतीति अविद्यासे होती है। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उससे उत्पन्न अहंवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है, तब केवल ब्रह्माकार चितवृत्ति स्थित हो जाती है।

३—मुक्तसुषुप्तयोः, भी पाठ है।

यद्यात्मधर्मोऽहङ्कारो नित्यत्वं[1] तस्य बोधवत् ।
नित्यत्वे मोक्षशास्त्राणां[2] वैयर्थ्यं प्राप्नुयात् ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

यदि अहङ्कारको आत्माका धर्म माना जाय तो उसको, ज्ञानके समान, नित्य मानना पड़ेगा। यदि उसको नित्य ही मान लिया जाय तो मोक्ष-शास्त्र सब व्यर्थ हो जाएँगे ॥ ३३ ॥

स्यात्परिहारः स्वाभाविकधर्मत्वाभ्युपगमेऽप्याम्रादिफलवदिति चेत्? तन्न ।

हाँ, यदि कहो कि अहङ्कारको आत्माका स्वाभाविक धर्म माननेपर भी कोई दोष नहीं आता। जैसे आम्रफलका हरितवर्ण स्वाभाविक होनेपर भी, वह नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अहङ्कार आत्माका स्वाभाविक धर्म होनेपर भी नष्ट हो जाएगा? तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि—

आम्रादेः परिणामित्वाद् गुणहानिर्गुणान्तरैः[3] ।
अविकारि तु तद् ब्रह्म न हि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥ ३४ ॥

आम्रादि फल परिणामी है, इसलिए उसमें गुणान्तरोंके उदित होनेसे पूर्व-गुणोंकी हानि हो सकती है, परन्तु यह ब्रह्म तो सर्वथा विकार-रहित है। जैसा कि 'न-हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णन किया गया है ॥ ३४ ॥

अहङ्कारस्याऽऽगमापायित्वात्तद्धर्मिणश्चाऽनित्यत्वं प्राप्नोति ।
आगमापायिनिष्ठत्वादनित्यत्वमियाद्दृशिः[4] ।
उपयन्नपयन्[5] धर्मो विकरोति हि धर्मिणम् ॥ ३५ ॥

अहङ्कार उत्पत्ति और नाशसे युक्त है। इसलिए उसको यदि आत्माका धर्म मानोगे तो आत्मा भी उत्पत्ति और नाशयुक्त होनेसे अनित्य हो जाएगा। क्योंकि धर्म उत्पन्न या नष्ट होता हुआ अपने धर्मीको विकारी बना देता है, यह नियम है ॥३५॥

अस्त्वनित्यत्वं कमुपालभेमहि, प्रमाणोपपन्नत्वादिति चेत् तन्न ।

शङ्का—अहङ्कारको आत्माका धर्म माननेसे यदि आत्मामें अनित्यत्व दोष आजाता है, तो आवे, किसे उपालम्भ दिया जाय? प्रमाणोंसे ऐसा ही सिद्ध है।

१—नित्यत्वमित्यस्य प्राप्नुयादित्यत्र सम्बन्धः ।

२—बोधशास्त्राणां, ऐसा भी पाठ है।

३—गुणान्तरे, भी पाठ है।

४—इयादृशेः, ऐसा भी पाठ है।

५—उपयन् = प्रादुर्भवन्, अपयन् = तिरोभवन् ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि—

सदाऽविलुप्तसाक्षित्वं स्वतः सिद्धं न पार्यते।
अपह्नोतुं घटस्येव कुशाग्रीयधियात्मनः॥ ३६॥

कुशाग्रके समान सूक्ष्म बुद्धिवाले पुरुष स्वतः सिद्ध, सदा अलुप्त द्रष्टृत्वरूप आत्माके साक्षित्वको, घटादिके समान, छिपा नहीं सकते हैं॥ ३६॥

एतस्माच्च हेतोरहङ्कारस्याऽनात्मधर्मत्वमवसीयताम्।
प्रमाणैश्चाऽवगम्यत्वाद्घटादिवदहंदृशेः।
यतो राद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिद्ध्यति॥ ३७॥

और इस कारणसे भी अहङ्कारको आत्मासे भिन्नका (अनात्माका) धर्म समझना चाहिए कि अहङ्कारका घटादिके समान प्रमाणोंसे ग्रहण किया जाता है। यदि कहो कि आत्माका भी तो प्रमाणोंसे ही ग्रहण किया जाता है, इसलिए वह भी अनात्मा हो जायगा, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जिससे समस्त प्रमाणोंकी सिद्धि होती है, वह आत्मा प्रमाणोंसे कैसे सिद्ध किया जा सकता है?॥ ३७॥

[1]धर्मधर्मिणोश्चेतरेतरविरुद्धात्मकत्वादसङ्गतिः।
धर्मिणश्च विरुद्धत्वान्न दृश्यगुणसङ्गतिः।
मारुतान्दोलितज्वालं शैत्यं नाऽग्निं सिसृप्सति[2]॥ ३८॥

धर्म (अहंकार) और धर्मी (आत्मा) दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिए भी उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। जैसे वायुसे प्रज्वलित अग्निको शीतका स्पर्श नहीं हो सकता है। वैसे ही दृश्यके गुणोंके साथ धर्मी आत्माका विरोध होनेके कारण उनका (दृश्यके गुणोंका) उससे (आत्मासे) सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

तस्माद् विस्रब्धमुपगम्यताम्।
द्रष्टृत्वं दृश्यता चैव नैकस्मिन्नेकदा क्वचित्।
दृश्यदृश्यो न च द्रष्टा द्रष्टुर्दर्शी दृशिर्न च॥ ३९॥

इसलिए निःशङ्क होकर मान लीजिए कि

द्रष्टृत्व और दृश्यत्व कभी भी, कहीं भी एक समय एकमें नहीं रहते। तथा द्रष्टा दृश्योंका दृश्य और दृश्य द्रष्टाका द्रष्टा कदापि नहीं होता॥ ३९॥

१—एवं धर्मधर्मिणोः, ऐसा पाठ भी है।

२—'सिसृक्ष्यति, और सिसृप्स्यति, ऐसा भी पाठ है।' सिसृप्सति = उपगच्छति, सम्बध्यत इति यावत्।

सर्वव्यवहारलोपश्च प्राप्नोति । यस्मात्—

द्रष्टाऽपि यदि दृश्याया आत्मेयात्कर्मतां धियः ।
यौगपद्यमदृश्यत्वं वैयर्थ्यं चाऽऽप्नुयाच्छ्रुतिः ॥ ४० ॥

यदि द्रष्टामें दृश्यत्व माना जाय, तब सब व्यवहारोंका लोप प्राप्त होगा। क्योंकि यदि द्रष्टा होकर भी आत्मा दृश्यभूत बुद्धिका प्रकाश्य बनेगा तो बुद्धि और आत्मा दोनोंको ही एक ही समयमें द्रष्टृत्व और दृश्यत्व एवं (दोनों ही द्रष्टा होनेके कारण) दोनोंको अदृश्यत्व भी प्राप्त होगा। और फिर "न हि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"—अविनाशी होनेके कारण द्रष्टा आत्माकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता।" यह श्रुति भी व्यर्थ हो जायगी ॥ ४० ॥

कुतः । यस्मात् ।

नाऽलुप्तद्रष्टेर्दृश्यत्वं दृश्यत्वे द्रष्टृता कुतः ।
स्याच्चेद्दृगेकं निर्दृश्यं[1] जगद्वा स्यादसाक्षिकम् ॥ ४१ ॥

शङ्का—आत्मा क्यों दृश्य नहीं बन सकता ? उत्तर—

घटादि पदार्थोंके समान द्रष्टिका लोप हुए बिना तो दृश्यत्व नहीं बन सकता और जो दृश्य हो गया वह फिर द्रष्टा कैसे हो सकता है ? यदि दृश्य होनेपर भी उसका द्रष्टा होना माना जाय तो यह सम्पूर्ण जगत् द्रष्टारूप हो जानेसे दृश्यशून्य केवल द्रष्टा ही शेष रहेगा और यदि द्रष्टाका दृश्य होना माना जाय तो सारा जगत् द्रष्टासे शून्य हो जायगा ॥ ४१ ॥

उक्तयुक्तिं[2] द्रढीकर्तुमागमोदाहरणोपन्यासः—

आर्त्तमन्यद्दृशेः सर्वं नेति नेतीति वाऽसकृत् ।
वदन्ती निर्गुणं ब्रह्म कथं श्रुतिरुपेक्ष्यते ॥ ४२ ॥
महाभूतान्यहङ्कार इत्येतत्क्षेत्रमुच्यते ।
न दृशेर्द्वैतयोगोऽस्ति[3] विश्वेश्वरमतादपि ॥ ४३ ॥

पूर्वोक्त युक्तिको दृढ़ करनेके लिए श्रुतिके प्रमाणोंको उद्धृत करते हैं—

'अतोऽन्यदार्तम्' (द्रष्टाके अतिरिक्त सब वस्तु मिथ्या हैं) तथा 'नेति नेति' (यह जो कुछ दृश्यमान है, वह आत्मा नहीं है) इत्यादि निर्गुण ब्रह्मको प्रतिपादन

१—स्याच्चेद्दृगेका निर्दृश्या, ऐसा भी पाठ है ।

२—उक्तयुक्तिद्रढिम्ने, ऐसा भी पाठान्तर है ।

३—द्वैतभोगोऽस्ति, भी पाठ है ।

करनेवाली श्रुतियोंकी कैसे उपेक्षाकी जाय ? ॥ ४२ ॥ "महाभूत और अहंकार, ये सब क्षेत्र कहलाते हैं।" इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके मतसे भी द्रष्टाका द्वैतसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यही सिद्ध होता है ॥ ४३ ॥

अधुना प्रकृतार्थोपसंहारः ।

अब (अनात्म वस्तुके क्षेत्ररूप होनेके कारण विकारयुक्त सिद्ध होनेपर) अहङ्कारादि द्वैतप्रपञ्च सब अनात्मरूप तथा मिथ्या है, इस प्रकृत अर्थका उपसंहार करते हैं—

एवमेतद्विरुज्ञेयं मिथ्यासिद्धमनात्मकम् ।
मोहमूलं सुदुर्बोधं द्वैतं युक्तिभिरात्मनः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार मिथ्या भ्रमसे सिद्ध, अज्ञानमूलक आत्मस्वभावसे रहित होनेके कारण प्रमाण एवं युक्तियोंसे विरुद्ध द्वैतको पूर्ववर्णित युक्तियोंके द्वारा आत्मासे पृथक् जानना चाहिए ॥ ४४ ॥

कुतो मिथ्यासिद्धत्वं द्वैतस्येति चेत् ?

न पृथङ् नात्मना सिद्धिरात्मनोऽन्यस्य वस्तुनः ।
आत्मवत्कल्पितस्तस्मादहङ्कारादिरात्मनि ॥ ४५ ॥

शङ्का—किस कारणसे द्वैत मिथ्या है ?

समाधान—आत्मासे व्यतिरिक्त द्वैतवस्तुकी सिद्धि आत्मासे पृथक्रूपसे अथवा अभेद रूपसे नहीं हो सकती है। इसलिए आत्मामें अहङ्कार आदि कल्पित हैं ॥ ४५ ॥

तस्मादज्ञानविजृम्भितमेतत्—

दृश्याः शब्दादयः क्लृप्ता द्रष्टृ च ब्रह्म निर्गुणम् ।
अहं तदुभयं बिभ्रद् भ्रान्तिमात्मनि यच्छति ॥ ४६ ॥

इसलिए यह सब अज्ञानका प्रभाव है कि—

जो शब्दादि विषय दृश्य बनाए गये हैं और निर्गुण ब्रह्म उनका द्रष्टा बनाया गया है, यह सब वास्तवमें अहङ्कार ही इन दोनोंरूपोंको धारण करके आत्मामें द्रष्टृत्वादिकी भ्रान्ति उत्पन्न करता है ॥ ४६ ॥

तत एवेयमभिन्नस्याऽऽत्मनो भेदबुद्धिः ।

दृगेका सर्वभूतेषु भाति दृश्यैरनेकवत् ।
जलभाजनभेदेन मयूखस्रग्विभेदवत् ॥ ४७ ॥

इस अहङ्कारके ही कारण एक अभिन्न आत्मामें (यह सुखी है, दुःखी है, मूर्ख है, पण्डित है, इत्यादि) भेदबुद्धि उत्पन्न हुई है।

सब प्राणियोंमें एक ही व्यापक आत्मा दृश्यभेदोंसे—जल-पात्रमें प्रतिबिम्बित सूर्य

जिस प्रकार एक होनेपर भी अनेक-सा प्रतीत होता है इसी प्रकार—अनेकसा प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

यथोक्तार्थस्य प्रतिपत्तये दृष्टान्तः—

मित्रोदासीनशत्रुत्वं यथैकस्याऽन्यकल्पनात् ।
अभिन्नस्य चितेस्तद्वद् भेदोऽन्तःकरणाश्रयः ॥ ४८ ॥
अपहारो[1] यथा भानोः सर्वतो जलपात्रकैः ।
तत्क्रियाकृतिदेशाद्यैस्तथा बुद्धिभिरात्मनः ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त भावको स्पष्ट करनेके लिए दृष्टान्त दिया जाता है—

जैसे एक ही मनुष्यमें दूसरोंकी कल्पनासे मित्र, शत्रु, उदासीन आदि भेद हो जाते हैं। वैसे ही एक आत्मामें अन्तःकरणोंके भिन्न होनेसे सुखी, दुःखी इत्यादि नाना भेद हो गए हैं ॥ ४८ ॥

और जैसे अनेक जलपात्र एक ही सूर्यको प्रतिबिम्ब रूपतया अनेक रूपसे ग्रहण करते हैं वैसे ही अनेक अन्तःकरण एक ही आत्माको अपने अपने ध्यानादि क्रिया, आकार, धर्म, आधारभूत हृदयादि देश, इत्यादि नानारूपोंसे ग्रहण करते हैं ॥ ४९ ॥

न च विरुद्धधर्माणामेकत्राऽनुपपत्तिः। किं कारणम् ?

कल्पितानामवस्तुत्वात्स्यादेकत्राऽपि सम्भवः ।
कमनीया शुचिः स्वाद्वीत्येकस्यामिव योषिति[2] ॥ ५० ॥

और यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि एक ही आत्मामें सुख, दुःख, राग, द्वेष इत्यादि विरुद्ध धर्म कैसे रह सकेंगे ! क्योंकि कल्पित पदार्थ वास्तवमें होते नहीं। इसलिए वे परस्पर विरुद्ध होनेपर भी एक स्थानमें रह सकते हैं। जैसे कि एक ही स्त्रीके शरीरमें कामियोंके लिए कमनीयत्व, संन्यासियोंके लिए अशुचित्व और कुत्तोंके लिए स्वादुत्व, ये परस्पर विरुद्ध धर्म रहते हैं ॥५०॥

न चाऽयं क्रियाकारकफलात्मक आभास ईषदपि परमार्थवस्तु स्पृशति, तस्य मोहमात्रोपादानत्वात् ।

अभूताभिनिवेशेन स्वात्मानं वञ्चयत्ययम् ।
असत्यपि द्वितीयेऽर्थे सोमशर्मपिता यथा ॥ ५१ ॥

१—अपहारः = प्रतिबिम्बरूपेण ग्रहणम् ।

२—यही पञ्चदशी में भी कहा है—

भार्या स्नुषा ननान्देति याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद् भिद्यते न स्वरूपतः ॥

और यह क्रिया, कारण एवं फलरूप मिथ्याभास केवल मोहसे ही उत्पन्न होनेके कारण परमार्थ वस्तुको लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता।

द्वैत प्रपञ्चके न होनेपर भी मिथ्याभिनिवेशसे ही यह लोक 'मैं सुखी हूँ' मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार अपने आपको ऐसे वञ्चित कर रहा है। जैसे कि मनोरथसे कल्पित सोमशर्मा पुत्रका कल्पित पिता (कोई मनुष्य)* ॥ ५१ ॥

वस्तुयाथात्म्यानवबोधपटलावनद्धाक्षः सन् ।
सुभ्रूः सुनासा सुमुखी सुनेत्रा चारुहासिनी ।
कल्पनामात्रसम्मोहाद्रामेत्यालिङ्गतेऽशुचिम् ॥ ५२ ॥

वस्तुके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानरूप अन्धकारसे आच्छादितनेत्र होकर—कल्पनामात्रसे बावला (पागल) होता हुआ यह पुरुष अत्यन्त अपवित्र स्त्रीशरीरको सुन्दर भौंह, सुन्दरनासिका, सुमनोहरमुख, सुन्दर नेत्र और मनोहर हास्यवाली समझकर उससे आलिङ्गन करता है ॥ ५२ ॥

सर्वस्याऽनर्थजातस्य जिहासितस्य मूलमहङ्कार एव तस्याऽऽत्मानात्मोपरागात् । न तु परमार्थत आत्मनोऽविद्यया तत्कार्येण वा सम्बन्धोऽभूदस्ति भविष्यति वा। तस्याऽपरिलुप्तदृष्टिस्वाभाव्यात् ।

सर्वथा त्यागने योग्य इस सारे अनर्थसमूहका मूल अहङ्कार ही है। क्योंकि उसका आत्मा और अनात्मा दोनोंके साथ सम्बन्ध है। परन्तु वास्तवमें तो आत्माका सम्बन्ध

---

* कोई अत्यन्त दरिद्र बह्वाशी ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता हुआ किसी दुर्भिक्षके समय एकपात्रमें सत्तूकी धूलि लेकर किसी पर्वतमें वृक्षकी छायामें सोता हुआ मनोरथ करने लगा कि—मैं इस सत्तूसे कई गौ खरीदकर उन्हें खूब परिपुष्ट करूँगा। फिर वे २।३ वर्ष में कई बछड़े उत्पन्न करेंगी। तब मैं उन वृषभोंसे खूब हल जोतकर खेतोंमें बहुतसा अन्न पैदाकर धान्यसे बहुत सम्पन्न हो जाऊँगा। फिर बहुतसे दास-दासियोंसे युक्त एक अतीव सुन्दर महल बनाऊँगा। उसे देखकर फिर कोई योग्य व्यक्ति अपनी योग्य कन्याका मेरे साथ ब्याह कर देगा। तब मैं यथायोग्य गृहस्थ सम्बन्धी उत्तमोत्तम सुखोंका अनुभव करते हुए वंशका विस्तार करनेवाला पुत्र उत्पन्न करूँगा—उसका नाम रखूँगा—'सोमशर्मा'। पीछे कुटुम्ब सौख्यकी अनुभव वेलामें कार्यवश रोते हुए बच्चेको छोड़कर अपना कार्य करनेवाली अपनी स्त्रीको मैं पुत्रनिमित्तक कोपावेशमें आकर खूब पीटूँगा।" ऐसा सोचते हुए उस ब्रह्मचारीने कोपावेशमें आकर ज्यों ही अपना हाथ जोरसे उस मृण्मय भिक्षापात्रमें मारा, त्योंही उस भिक्षापात्रके दो टुकड़े हो गये और सत्तू सब मट्टीमें मिल गया। तब वह पीछे हाय, मैं नष्ट हो गया। अरे, अब क्या करूँ ? हाय, मेरा भाग्य बड़ा मन्द है ? ऐसा कहता हुआ खूब पश्चात्ताप करने लगा।

अविद्या अथवा उसके कार्योंसे न कभी हुआ, न है और न होगा। क्योंकि वह अविनाशी-ज्ञान स्वरूप है।

दृश्यानुरक्तं तद्द्रष्टृ दृश्यं द्रष्टृनुरञ्जितम्।
अहंवृत्त्योभयं रक्तं तन्नाशेऽद्वैतमात्मनः ॥ ५३ ॥

शब्दादि दृश्य विषयोंसे सम्बद्ध होकर अन्तःकरण उनका द्रष्टा होता है और वही अन्तःकरण द्रष्टासे अनुरञ्जित (संमिलित) होकर चैतन्यका दृश्य अर्थात् उससे भासित होता है। इस प्रकार अहङ्कारसे द्रष्टा और दृश्य दोनोंका सम्बन्ध है। इसलिए अहङ्कार-का नाश होनेसे आत्माकी अद्वैतावस्था (अपने आप) सिद्ध होती है ॥ ५३ ॥

इह केचिच्चोदयन्ति, योऽयमन्वयव्यतिरेकाभ्यामनात्मतयोत्सारितोऽहङ्कारो वाक्यार्थप्रतिपत्तये, सोऽयं विपरीतार्थः संवृत्तो यस्मादहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्माहंपदार्थयोः सामानाधिकरण्यश्रवणात् अनात्मार्थेन सामानाधिकरण्यं प्राप्नोति। वक्तव्या च प्रत्यगात्मनि वृत्तिः, सोच्यते प्रसिद्धलक्षणा गुणवृत्तिभिः।

इसपर कोई लोग यह शङ्का करते हैं कि जो यह अन्वय व्यतिरेक द्वारा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंके अर्थज्ञानके लिए अहङ्कारको अनात्मा ठहराकर उसे पृथक् कर दिया है, सो यह विपरीत हो गया है। क्योंकि 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस श्रुतिमें ब्रह्म और अहङ्कारका अभेद प्रतिपादन किया है, परन्तु आत्माके साथ तो अनात्माका अभेद नहीं हो सकता है। इसलिए अहं शब्दकी प्रत्यगात्मामें वृत्ति कहनी चाहिए। अर्थात् अहंशब्द आत्माका किस वृत्ति (शक्ति अथवा लक्षणा) से बोधक होता है, यह बतलाना चाहिए। वही कहते हैं—अहं शब्द मुख्य-वृत्ति (शक्ति), लक्षणा-वृत्ति और गौणी-वृत्तिसे आत्माका बोधक है।

प्रथम लक्षणावृत्तिसे अहंशब्द किस प्रकार आत्माका वाचक है, यह बतलाते हैं—

नाऽज्ञासिषमिति प्राह सुषुप्तादुत्थितोऽपि हि।
अयोदाहादिवत्तेन लक्षणं परमात्मनः ॥ ५४ ॥

मनुष्य सोकर उठनेपर मैं इतनी देर तक कुछ नहीं जानता था, ऐसा कहता है। ऐसे स्थलोंमें अहङ्कार-रहित केवल आत्मामें भी अहं शब्दका प्रयोग होता है। इसलिए जिस प्रकार 'लोहा जलाता है' इत्यादि प्रयोग-स्थलोंमें लोहेमें जलाना न बन सकनेके कारण, लोहा इस शब्दका, अग्नितप्त लोहा, ऐसा अर्थ लक्षणावृत्तिसे किया जाता है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' यहाँ भी दृश्यभूत अहङ्कारकी कभी निर्गुण ब्रह्मसे

एकता नहीं हो सकती है, इसलिए यहाँ अजहल्लक्षणा द्वारा 'अहं' शब्द प्रत्यगात्माका बोधक है ॥ ५४ ॥

[अब गौणीवृत्तिसे 'अहं' शब्द आत्माका बोधक होता है, यह दिखलाते हैं—]

प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वादात्मदृष्ट्यनुशीलनात् ।
अतो वृत्तीर्विहायाऽन्या ह्यहंवृत्त्योपलक्ष्यते ॥ ५५ ॥

अहङ्कारसे अतिरिक्त और जितने भी अनात्म पदार्थ हैं, उन सभीसे अहङ्कार ही आन्तर (आत्माका अधिक समीपवर्ती) है और आत्माके समान अति सूक्ष्म है एवं उसमें आत्मदृष्टिका अनुशीलन अनादिकालसे होता आया है। इन सब कारणोंसे अहङ्कार और आत्माका साम्य होनेसे—जिस प्रकार तिलोंके तैलसे[1] समानता होनेके कारण सरसों आदिसे निकले हुए तैलका भी गौणीवृत्ति द्वारा तैल शब्दसे ग्रहण होता है। इसी प्रकार—अन्य वृत्तियोंको छोड़कर गौणीवृत्ति द्वारा अहं शब्दसे आत्माका ग्रहण होता है ॥ ५५ ॥

[अब मुख्य वृत्तिसे अहं शब्द अन्तःकरण विशिष्ट आत्माका वाचक है, इसलिए शुद्ध आत्माका भी वाचक है। क्योंकि विशिष्टमें विशेषण और विशेष्य दोनों होते हैं। यह कहते हैं—]

आत्मना चाऽविनाभावमन्यथा विलयं व्रजेत् ।
न तु पक्षान्तरं यायादतश्चाऽहंधियोच्यते ॥ ५६ ॥

अहङ्कार अपने स्थितिकालमें आत्माके बिना अस्तित्व नहीं रख सकता है। अन्यथा आत्माके बिना उसका विलय ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त और कोई गति नहीं हो सकती। जहाँ अहंकार है वहाँ आत्मा है उसको छोड़कर उसकी स्थिति नहीं है। इसलिए अहं शब्द शक्ति द्वारा ही आत्माका बोधक होता है ॥ ५६ ॥

कीदृक् पुनर्वस्तु लक्ष्यम् ?
नामादिभ्यः परो भूमा निष्कलोऽकारकोऽक्रियः ।
स एवाऽऽत्मवतामात्मा स्वतः सिद्धः स एव नः ॥ ५७ ॥

प्रश्न—उस लक्ष्य आत्माका (ब्रह्मका) कैसा स्वरूप है ?

उत्तर—छान्दोग्य उपनिषद्में कथित नामसे लेकर प्राणपर्यन्त सब पदार्थोंसे परे, व्यापक, विभागसे (भेदसे) रहित, जो किसीका साधन नहीं है और जो स्वयं क्रियासे शून्य है, वही सब आत्मवादियोंके मतमें आत्मा है।

प्रश्न—उक्त विशेषण युक्त ब्रह्म आपके मतमें लक्ष्य रहे, परन्तु अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध हुए बिना वास्तवमें वह लक्ष्य हो कैसे सकता है।

---

(१) तैल-शब्द अभिधा-शक्तिसे तिलोंसे निकले हुए तेलका ही वाचक है।

उत्तर—हमारे मतमें ब्रह्म स्वतः एव सिद्ध है। उसको अपनी सिद्धिके लिए प्रमाणान्तरोंकी आवश्यकता ही नहीं है ॥ ५७ ॥

अज्ञानोत्थबुद्ध्यादिकर्तृत्वोपाधिमात्मानं परिगृह्यैवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामहं सुखी दुःखी चेत्यहङ्कारादेरनात्मधर्मत्वमुक्तम्। केवलात्माभ्युपगमेऽशक्यत्वात् फलाभावाच्च। अथेदानीमविद्यापरिकल्पितं साक्षित्वमाश्रित्य कर्तृत्वाद्यशेषपरिणामप्रतिषेधायाऽऽह।

अज्ञानसे उत्पन्न बुद्ध्यादिरूप कर्तृत्व, भोक्तृत्व उपाधियोंसे युक्त आत्माको लेकर ही अन्वय और व्यतिरेकसे 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकारके अहङ्कारादिको अनात्माका धर्म बतलाया। क्योंकि अविद्यासे कल्पित रूपको त्याग कर केवल आत्मा माननेपर अन्वय और व्यतिरेक व्यवहार नहीं हो सकते हैं और उनसे कुछ प्रयोजन भी नहीं है। इसके अनन्तर अब अविद्यासे कल्पित साक्षित्वको लेकर कर्तृत्वादि समस्त परिणामोंका निषेध करनेके लिए कहते हैं—

एष सर्वधियां नृत्तमविलुप्तैकदर्शनः।
वीक्षतेऽवीक्ष्यमाणोऽपि निमिषत्तद्ध्रुवोऽध्रुवम् ॥ ५८ ॥

यह अपरिणामी, अद्वितीय तथा नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं दृष्टिका विषय न होता हुआ भी जड़रूप बुद्धि आदिके नृत्यको देखता है ॥ ५८ ॥

ननु सर्वसिद्धान्तानामपि स्वदृष्ट्यपेक्षयोपपन्नत्वादितरेतरदृष्ट्यपेक्षया च दुःस्थितसिद्धिकत्वान्नैकत्राऽपि विश्वासं पश्यामो न च सर्वतार्किकैरदूषितं समर्थितं सर्वतार्किकोपद्रवापसर्पणाय वर्त्म संभावयामः। उच्यते। विश्रब्धैः सम्भाव्यतामनुभवमात्रशरणत्वात्सर्वतार्किकप्रस्थानानाम्। तदभिधीयते।

शङ्का—सभी शास्त्रकारोंके सिद्धान्त अपनी-अपनी दृष्टिसे सङ्गत और विपक्षी लोगोंकी दृष्टिमें परस्पर विरुद्ध होनेके कारण हमें किसी एक सिद्धान्तपर विश्वास नहीं होता और (ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसका समस्त तार्किकोंने खण्डन या मण्डन नहीं किया हो। इसलिए) ऐसा कोई मार्ग नहीं दीख पड़ता जिससे समस्त तार्किकोंका उपद्रव (वादविवाद) शान्त हो जाय ?

समाधान—इस बातको निःशङ्क होकर मान लीजिए कि आत्मा स्वयम्प्रकाश, अकर्ता तथा अभोक्ता है। क्योंकि समस्त दर्शनोंका एकमात्र शरण अनुभव ही है। यही बात (अग्रिम श्लोकसे) कही जाती है—

इमं प्राश्निकमुद्दिश्य तर्कज्वरभृशातुराः ।
स्याच्छिरस्कवचोजालैर्मोहयन्तीतरेतरम् ॥ ५९ ॥

इसी अनुभवरूपी मध्यस्थको उद्देश्य करके तर्करूप ज्वरसे अत्यन्त आर्त हुए वादी लोग 'स्यात्' शब्द जिनके अन्तमें है ऐसे 'एतत्स्यात्' 'अमुकत्स्यात्' इत्यादि वाग्जालोंसे एक दूसरेको मोहित करते हैं ॥ ५९ ॥

अत्रापि चोदयन्ति । अनुभवात्मनोऽपि विक्रियाभ्युपगमेऽनभ्युपगमेऽपि दोष एव । यस्मादाह ।

इसपर भी कोई लोग यह शङ्का करते हैं कि उस अनुभवरूप आत्माको विकार-युक्त अथवा तद्रहित चाहे जैसा मानो, दोनों प्रकारसे दोष आता है । क्योंकि—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति[1] तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः ॥ ६० ॥
बुद्धिजन्मनि पुंसश्च विकृतिर्यद्यनित्यता ।
अथाऽविकृतिरेवाऽयं[2] प्रमातेति न युज्यते ॥ ६१ ॥

वृष्टि अथवा धूपसे आकाशमें तो कोई विकार नहीं हो सकता, किन्तु उनका (वृष्टि और धूपका) फल त्वचामें ही प्रतीत होता है । सो यदि आत्मा चर्मके समान विकारवाला है, तब तो अनित्य है और यदि आकाशके समान निर्विकार है, तब वह अभावरूप हो जायगा ॥ ६० ॥

नाना बुद्धियोंके उत्पन्न होनेसे आत्मामें यदि विकार माना जाय तब वह अनित्य हो जायगा और यदि उसे निर्विकार माना जाय तब वह प्रमाता नहीं बन सकता ॥ ६१ ॥

अस्य परिहारः ।

इस शङ्काका परिहार कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छति धूमे खं भिद्यते स्विन्न भिद्यते ।
न भिद्यते चेत्स्थास्नुत्वं भिद्यते चेद्भिदाऽस्य का ॥ ६२ ॥

धूएँके ऊपरको उठनेसे आकाश विदीर्ण होता है या नहीं ? यदि नहीं विदीर्ण होता है, तो धुँआ ऊपरको जा नहीं सकता और यदि विदीर्ण होता है तो आकाशमें क्या विकार हो सकता है ? (अर्थात् जैसे धूमकी गतिसे आकाश विकृत नहीं होता है, वैसे ही बुद्धियोंका प्रमाता होनेपर भी आत्मामें विकार नहीं हो सकता है !) ॥ ६२ ॥

१—चर्मण्येव, ऐसा भी पाठ है ।

२—अथाविकृत एवायं, पाठ भी है ।

इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थमाह ।

उक्त दृष्टान्तको समझानेके लिए कहते हैं—

अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्यादहंबुद्धिविभ्रमात् ।
नौयानविभ्रमाद्यद्वन्नगेषु गतिकल्पनम् ॥ ६३ ॥

जिस प्रकार चलती हुई नौकापर बैठे हुए मनुष्योंको नदीके तीरपर स्थित वृक्ष आदि भ्रान्तिसे चलते हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार विकाररहित आत्मामें भोक्तृत्व आदि विकार अहंबुद्धिसे उत्पन्न हुई भ्रान्तिसे होते हैं ॥ ६३ ॥

यथोक्तार्थाविष्करणाय दृष्टान्तान्तरोपादानम् ।

पूर्वोक्त अर्थको स्फुट करनेके लिए एक और दृष्टान्त देते हैं ।

यथा जात्यमणेः शुभ्रा ज्वलन्ती निश्चला शिखा ।
सन्निध्यसन्निधानेषु घटादीनामविक्रिया ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार उत्तम मणिकी प्रकाशमान, निश्चल प्रभा प्रकाश्य घटादि पदार्थोंके समीप होने और न होनेपर भी विकारवाली नहीं होती ॥ ६४ ॥

अयमत्रांशो विवक्षित इति ज्ञापनायाऽऽह ।

इस दृष्टान्तका कौन सा अंश दार्ष्टान्तिकमें विवक्षित है यह बतलानेके लिए कहते हैं—

यदवस्था व्यनक्तीति तदवस्थैव सा पुनः ।
भण्यते न व्यनक्तीति घटादीनामसन्निधौ[1] ॥ ६५ ॥

जिस स्वरूपसे वह मणिकी प्रभा घटादि पदार्थोंके समीप होनेपर उनकी प्रकाशिका कहलाती है, उसी स्वरूपसे उनके समीप न होनेपर उनकी अप्रकाशिका कहलाती है ॥६५॥

तत्र च—

सर्वधीव्यञ्जकस्तद्वत्परमात्मा प्रदीपकः ।
सन्निध्यसन्निधानेषु धीवृत्तीनामविक्रियः ॥ ६६ ॥

इसी प्रकार जिस ज्ञानस्वरूपसे यह आत्मप्रदीप (आत्मारूपी दीपक) बुद्धिकी वृत्तियोंका, उनसे सन्निधान होनेपर, प्रकाशक है, उसी रूपमें उनके सन्निहित न होनेसे उनका अप्रकाशक है। प्रकाशक अवस्थामें वह विकारी और अप्रकाशक अवस्थामें असत्‌रूप अर्थात् वह नहीं है ऐसा, नहीं होता ॥ ६६ ॥

१—असन्निधेः, ऐसा भी पाठ है ।

न प्रकाशक्रिया काचिदस्य स्वात्मनि विद्यते ।
उपचारात् क्रिया साऽस्य यः प्रकाश्यस्य सन्निधिः ॥ ६७ ॥

इस आत्मामें बुद्ध्यादिको प्रकाशित करनेवाली कोई क्रिया नहीं है। केवल प्रकाश्य विषयोंका सान्निध्य ही उपचारसे इसकी क्रिया (इस शब्दसे) कहा जाता है।

मैवं शङ्किष्ठाः साङ्ख्यराद्धान्तोऽयमिति । यतः,
यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाऽभ्रमण्डलम् ।
भूत्वा विलीयते तद्वदात्मनीहाऽखिलं जगत् ॥ ६८ ॥

ऐसी शङ्का मत कीजिए कि 'यह तो तुमने साङ्ख्यके सिद्धान्तको स्वीकार कर लिया है !' क्योंकि जैसे विशुद्ध आकाशमें एकाएक मेघकी काली काली घटाएँ उत्पन्न हो होकर विलीन होती रहती हैं, इसी प्रकार आत्मामें यह सपूर्ण जगत् उत्पन्न और विलीन होता रहता है ॥ ६८ ॥

तस्मादेष कूटस्थो न द्वैतं मनागपि स्पृशति । यतः ।
शब्दाद्याकारनिर्भासाः क्षणप्रध्वंसिनीर्दृशा ।
नित्योऽक्रमदृगात्मैको व्याप्नोतीव धियोऽनिशम् ॥ ६९ ॥

इस कारण यह निर्विकार आत्मा द्वैतसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बद्ध नहीं होता। क्योंकि यह नित्य, एक और सर्वदा प्रकाशक आत्मा अपने स्वरूपभूत चैतन्यसे, मानो शब्दादि विषयोंके आकारोंको धारण करनेवाली और प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली बुद्धिवृत्तियोंको, व्याप्त कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ६९ ॥

[६८ और ६९ इन दोनों श्लोकोंमें ग्रन्थकारने जगन्मिथ्यात्व और ऐकात्म्य दिखलाकर साङ्ख्यवादियोंके जगत्सत्यत्ववाद और नानात्मवादसे, अपनी ६८ वें श्लोककी अनुक्रमणिकामें की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार, वैलक्षण्य दिखाया है, यह जानना चाहिए।]

एवञ्च सति बुद्धेः परिणामित्वं युक्तम् ।
अतीतानागतेहत्यान् युगपत्सर्वगोचरान् ।
वेत्त्यात्मवन्न धीर्यस्मात्तेनेयं परिणामिनी ॥ ७० ॥

इसलिए बुद्धिको परिणामिनी मानना युक्त है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान, इन सब पदार्थोंको, आत्माके समान, बुद्धि एक कालमें ही नहीं जान सकती। इस कारण वह परिणामिनी है ॥ ७० ॥

ततश्चैतत्सिद्धम्—

अपश्यन्पश्यन्तीं बुद्धिमशृण्वन् शृण्वतीं तथा।
निर्मलोऽविक्रियो[1]ऽनिच्छन्निच्छन्तीं चाऽप्यलुप्तदृक् ॥७१॥
द्विषन्तीमद्विषन्नात्मा कुप्यन्तीं चाऽप्यकोपनः।
निर्दुःखो दुःखिनीं चैव निःसुखः सुखिनीमपि ॥ ७२ ॥
अमुह्यमानो मुह्यन्तीं कल्पयन्तीमकल्पयन्।
स्मरन्तीमस्मरंश्चैव शयानामस्वपन् मुहुः ॥ ७३ ॥
सर्वाकारां निराकारः स्वार्थोऽस्वार्थां निरिङ्गनः।
निस्त्रिकालस्त्रिकालस्थां कूटस्थः क्षणभंगुराम् ॥ ७४ ॥
निरपेक्षश्च सापेक्षां पराचीं प्रत्यगद्वयः।
सावधिं निर्गतेयत्तः सर्वदेहेषु पश्यति ॥ ७५ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि,

देखना, सुनना, चाहना, द्वेष करना, कुपित होना, दुःखी होना, सुखी होना, मोहित होना, कल्पना करना, स्मरण करना, सोना इत्यादि विकारोंसे रहित, निरपेक्ष, विषयोंसे विरुद्ध, सर्वदा स्वयंप्रकाश, निर्मल, स्वार्थ, कूटस्थ तथा क्रियाओंसे रहित यह आत्मा देखती, सुनती, चाहती, द्वेषकरती, कुपित होती, दुःखी होती, सुखी होती, मोहित होती, कल्पना करती, स्मरण करती, बार-बार सोती, और नाना आकारोंमें परिणित होती हुई, क्षण-भंगुरा, अपेक्षा करनेवाली, विषयोंमें लिप्त होनेवाली और सावधिक (परिच्छिन्न) बुद्धि, को सब देहोंमें देखता है ॥ ७१-७२-७३-७४-७५ ॥

एतस्माच्च कारणादयमर्थो व्यवसीयताम्—

दुःखी यदि भवेदात्मा कःसाक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा ॥ ७६ ॥

इस कारणसे यह निश्चय कर लेना चाहिए कि—

यदि आत्मा दुःखी (दुःख आदि परिणामयुक्त) है तो उसका साक्षी कौन होगा ? क्योंकि जो दुःखी है, वह साक्षी कैसे हो सकता है और जो साक्षी है वह दुःखी नहीं हो सकता है ॥ ७६ ॥

१—निर्यत्नोऽविक्रियः, ऐसा भी पाठ है।

पूर्वस्यैव व्याख्यानार्थमाह ।

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां[1] साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥ ७७ ॥

पूर्वोक्त विषयके ही व्याख्यानके लिए कहते हैं—

विकार हुए बिना दुःखी नहीं हो सकता है और जो विकारी है वह साक्षी नहीं हो सकता है। इसलिए अनेक बुद्धि-विकारोंका साक्षी अहं-शब्दका लक्ष्य आत्मा विकार रहित है ॥ ७७ ॥

एवं सर्वस्मिन् व्यभिचारिण्यात्मवस्त्वेवाऽव्यभिचारीत्यनुभवतो व्यवस्थापनायाऽऽह ।

इस प्रकार जब सब पदार्थोंका मिथ्या होना सिद्ध हुआ, तब (इतर सब पदार्थोंके व्यभिचारी[2] होनेसे) केवल एक आत्मा ही [3]अव्यभिचारी है अर्थात् उसका कभी अभाव नहीं होता। इस बातको अनुभवसे सिद्ध करनेके लिए कहते हैं—

प्रमाणतन्निभेष्वस्या नोच्छित्तिर्मम संविदः ।
मत्तोऽन्यद्रूपमाभाति यत्तत्स्यात्क्षणभङ्गि हि ॥ ७८ ॥
उत्पत्तिस्थितिभङ्गेषु कुम्भस्य वियतो यथा ।
नोत्पत्तिस्थितिनाशाः स्युर्बुद्धेरेवं ममाऽपि न[4] ॥ ७९ ॥

बुद्धि-परिणामरूप प्रमाण अथवा प्रमाणाभास नष्ट होते रहें, परन्तु ज्ञान-स्वरूप आत्माका कभी अभाव नहीं होता है और आत्मासे अन्य जितने पदार्थ ज्ञान विषय होते हैं वे सब क्षणभंगुर हैं ॥ ७८ ॥

जैसे घटकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशसे आकाशकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश नहीं होते, इसी प्रकार बुद्धिकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशोंसे आत्मा उनसे सम्बद्ध नहीं होता ॥ ७९ ॥

सुखदुःखतत्सम्बन्धानां च प्रत्यक्षत्वान्न श्रद्धामात्रग्राह्यमेतत् ।

सुखदुःखादिसम्बद्धां यथा दण्डेन दण्डिनम् ।
राधको वीक्षते बुद्धिं साक्षी तद्वदसंहतः ॥ ८० ॥

बुद्धि प्रत्यक्ष ही सुखदुःखादिसे युक्त देखी जाती है। इसलिए यह बात केवल श्रद्धामात्रसे ग्रहण करने योग्य नहीं है।

१—धीविक्रियासहस्रस्य, भी पाठान्तर है। २—मिथ्यारूप। ३—सत्य।
४—ममापि च, और 'ममापि नो' भी पाठ है।

जैसे दण्डी पुरुषको लक्षणरूप दण्डसे पहचान लेते हैं। वैसे ही सुख-दुःखादिसे युक्त बुद्धिको, उनसे असंस्पृष्ट साक्षी भली प्रकार देखता है, अतएव उसके धर्मोंका सम्बन्ध उसमें नहीं है ॥ ८० ॥

एतस्माच्च हेतोर्धियः[1] परिणामित्वं युक्तम् ।

येनैवाऽस्या भवेद्योगः सुखकुम्भादिना धियः ।
तं विदन्ती तदैवाऽन्यं वेत्ति नाऽतो विकारिणी ॥ ८१ ॥

इस कारणसे भी बुद्धिको परिणामी कहना ठीक है कि,

सुख-दुःख अथवा घटपटादि जिन-जिन विषयोंसे बुद्धिका सम्बन्ध होता है (अर्थात् बुद्धि जिन जिन आकारोंको प्राप्त होती है) उन्हीं विषयोंको वह ग्रहण करती है। जिनसे उसका सम्बन्ध नहीं होता है, उनको वह ग्रहण नहीं करती। इसलिए वह विकारिणी है ॥८१॥

अस्याश्च क्षणभङ्गुरत्वे स्वयमेवाऽऽत्मा साक्षी। न हि कूटस्थावबोधमन्तरेण[2] बुद्धेराऽऽविर्भावतिरोभावादिसिद्धिरस्ति ।

परिणामिधियां वृत्तं नित्याक्रमदृगात्मना ।
षड्भावविक्रियामेति व्याप्तं खेनाऽङ्कुरो यथा ॥ ८२ ॥

इस बुद्धिकी क्षणभङ्गुरताका साक्षी स्वयं आत्मा ही है। क्योंकि नित्यसिद्ध साक्षी-रूप ज्ञानके बिना बुद्धिके उत्पत्ति और विनाश प्रतीत नहीं हो सकते।

जैसे आकाशसे व्याप्त होकर ही अङ्कुर उत्पत्ति, अस्तित्व, वृद्धि, स्थिति, क्षय और नाशको प्राप्त होता है। इसी प्रकार परिणामी बुद्धि भी आत्मासे व्याप्त होकर ही उत्पत्ति आदि छः विकारोंका अनुभव करती है ॥ ८२ ॥

सत आत्मनश्चाऽविकारित्वे युक्तिः,

सत् रूप आत्माके अविकारी होनेमें युक्ति देते हैं—

स्मृतिस्वप्नाऽवबोधेषु न कश्चित्प्रत्ययो धियः ।
दृशाऽव्याप्तोऽस्त्यतो नित्यमविकारी स्वयंदृशिः ॥ ८३ ॥

स्मरणके समय, जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थामें कोई भी बुद्धिकी वृत्ति ऐसी नहीं होती जो आत्मासे व्याप्त नहीं है। इसलिए आत्मा नित्य अविकारी और स्वयं प्रकाश है ॥८३॥

एवं तावत्पराभ्युपगतप्रक्रियाप्रस्थानेन निरस्ताशेषविकारैकात्म्यं प्रतिपादितमुपपत्तिभिः। अथाऽधुना श्रौतीं प्रक्रियामवलम्ब्योच्यते ।

१—बुद्धेः परिणामित्वं, इस प्रकारका पाठ भी है।

२—कूटस्थावरोधमन्तरेण, पाठ भी है।

इस प्रकार वादियोंके मतमें मानी हुई प्रक्रियाको मानकर युक्तियोंके द्वारा सम्पूर्ण विकारोंसे रहित एक ही आत्मा है, ऐसा निरूपण किया। अब श्रुतिके अनुकूल प्रक्रियाका अवलम्बन करके उसी बातका निरूपण करते हैं—

अस्तु वा परिणामोऽस्य दृशेः कूटस्थरूपतः।
कल्पितोऽपि मृषैवाऽसौ दण्डस्येवाऽप्सु वक्रता॥ ८४॥

अथवा यदि आत्मामें परिणाम मान भी लिया जाय तो भी वह कल्पित होनेके कारण मिथ्या है ऐसा मानना पड़ेगा। क्योंकि श्रुतिने उसको कूटस्थ कहा है। (चैतन्यके प्रतिबिम्बसे वृत्तियोंमें भी जब एकाकारता प्रतीत होती है, तब फिर शुद्ध आत्मामें भेद कहाँसे हो सकेगा) इसलिए वह जलमें दण्डकी वक्रताके समान आत्मामें कल्पित है॥ ८४॥

षट्सु भावविकारेषु निषिद्धेष्वेवमात्मनि।
दोषः कश्चिदिहासक्तुं न शक्यस्तार्किकश्वभिः॥ ८५॥

इस प्रकार आत्मामें उत्पत्ति, वृद्धि, इत्यादि छः विकारोंका निषेध कर देनेपर फिर तार्किक लोग कोई भी दोष नहीं निकाल सकते!॥ ८५॥

प्रकृतमेवोपादाय बुद्धेः परिणामित्वमात्मनश्च कूटस्थत्वं युक्तिभिरुच्यते।

पूर्वोक्त श्रौत प्रक्रियाको लेकर ही बुद्धिकी परिणामिता और आत्माकी कूटस्थताको युक्तियोंसे सिद्ध करते हैं—

प्रत्यर्थं तु विभिद्यन्ते बुद्धयो विषयोन्मुखाः।
न भिदाऽवगतेस्तद्वत्सर्वास्ताश्चिन्निभा यतः॥ ८६॥

बुद्धियाँ जिस प्रकार प्रत्येक विषयमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती हैं, इस प्रकार चैतन्यमें भेद नहीं है। क्योंकि वे सब बुद्धि-वृत्तियाँ भी चिदाकार हैं। चैतन्यके प्रतिबिम्बसे वृत्तियोंमें भी जब एकाकारता प्रतीत होती है, तब शुद्ध आत्मामें भेद कहाँसे हो सकेगा? स्वतः उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता। केवल उपाधिभेदसे ही भेद प्रतीत होता है॥ ८६॥

स्वसम्बद्धार्थ एव[1]।

साऽवशेषपरिच्छेदिन्यत एव न कृत्स्नवित्।
नो चेत्परिणमेद्बुद्धिः सर्वज्ञा [2]साऽऽत्मवद्भवेत्॥ ८७॥

१—सम्बन्धार्थ एव, पाठ भी मिलता है। उच्यते, इति शेषः।

२—स्वात्मवद् भवेत्, भी पाठ है।

बुद्धिका उसके परिणामोंके साथ सम्बन्ध प्रतिपादन करते हैं—

बुद्धि परिणामिनी है, इसलिए वह कतिपय ही पदार्थोंको जान सकती है, सबको नहीं। यदि वह परिणामिनी न होती तो आत्माके समान सर्वज्ञ हो जाती ॥८७॥

अतोऽवगतेरेकत्वात् ।

इसलिए ज्ञानरूप चैतन्यके अद्वितीय होनेके कारण।

चण्डालबुद्धेर्यद् द्रष्टृ तदेव ब्रह्मबुद्धिदृक् ।
एकं तदुभयोर्ज्योतिर्भास्यभेदादनेकवत् ॥ ८८ ॥

चाण्डाल बुद्धिका जो द्रष्टा है वही ब्रह्मबुद्धिका भी द्रष्टा है, उन दोनों बुद्धियोंका प्रकाशक एक ही है। केवल भास्यके भेदसे अनेक-सा प्रतीत होता है ॥ ८८ ॥

कस्मात् ?

अवस्थादेशकालादिभेदो नास्त्यनयोर्यतः ।
तस्माज्जगद्धियां वृत्तं ज्योतिरेकं सदेक्षते[1] ॥ ८९ ॥

प्रश्न—यह कैसे ? उत्तर—अवस्था, देश और काल इत्यादि भेद चाण्डाल बुद्धिके साक्षी और ब्रह्मबुद्धिके साक्षी, इन दोनोंमें नहीं है। इसलिए सारे जगत्की बुद्धियोंको देखनेवाला एक ही प्रकाशस्वरूप आत्मा है।

सर्वदेहेष्वात्मैकत्वे प्रतिबुद्धपरमार्थतत्त्वस्यापि अप्रतिबुद्धदेहसम्बन्धादशेषदुःखसम्बन्ध इति चेत् । तन्न—

शङ्का—यदि सम्पूर्ण देहोंमें आत्मा एक ही है, तब जिसने परमार्थवस्तुभूत आत्माका साक्षात्कार कर लिया है, उसको भी अज्ञ लोगोंके शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण समस्त दुःखोंका सम्बन्ध हो जाएगा ?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि—

बोधात्प्रागपि दुःखित्वं नान्यदेहोत्थमस्ति नः ।
बोधादूर्ध्वं कुतस्तत्स्याद्यत्र स्वगतमप्यसत्[2] ॥ ९० ॥

जब कि ज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले भी अन्य देहोंसे उत्पन्न हुआ दुःख हमें नहीं था, तब ज्ञान उत्पन्न होने पर वह कैसे हो सकता है ? जब कि स्वयं अपने शरीरके दुःखका भी अपनेमें सम्बन्ध नहीं रहता ॥ ९० ॥

१—सदीक्षते, ऐसा भी पाठ है।

२—प्राक्तनमप्यसत्, भी पाठ है।

न चेयं स्वमनीषिकेति ग्राह्यम् । कुतः । श्रुत्यवष्टम्भात् ।

शब्दाद्याकारनिर्भासा हानोपादानधर्मिणी ।
भास्येत्याह श्रुतिर्दृष्टि[1]मात्मनोऽपरिणामिनः ॥ ९१ ॥

यह केवल हमारी कल्पनामात्र ही नहीं है । किन्तु श्रुति भी इस बातको प्रतिपादन करती है ।

शब्दादि विषयोंके आकारको धारण कर तद्रूपसे प्रकाशित होनेवाली तथा किसी विषयका ग्रहण और किसीका त्याग करती हुई बुद्धि अपरिणामी आत्मवस्तुके द्वारा प्रकाशित होती है, न कि आत्मा उस बुद्धिसे प्रकाशित होता है । ऐसा श्रुतिने प्रतिपादन किया है ॥९१॥

का त्वसौ श्रुतिः ?

दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं न पश्येद्दृश्ययाऽनया[2] ।
विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्धियां पतिम्* ॥ ९२ ॥

प्रश्न—वह श्रुति कौन सी है ?

उत्तर—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येत्'—"बुद्धिकी वृत्तियोंके द्रष्टा आत्माको इस बुद्धिका दृश्य मत समझो।" 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'—"बुद्धिके साक्षी–आत्माको किस साधन से जान सकते हैं।" इत्यादि श्रुति इस विषयमें प्रमाण हैं ॥ ९२ ॥

यस्मात्सर्वप्रमाणोपपन्नोऽयमर्थस्तस्मादतोऽन्यथावादिनो जात्यन्धा इवाऽनुकम्पनीया इत्याह ।

बुद्धि परिणामिनी है और आत्मा कूटस्थ एवं नित्य है, यह बात सर्व प्रमाणोंसे सिद्ध है । इसलिए इसके विरुद्ध बोलनेवाले लोग जन्मान्धोंकी तरह कृपापात्र हैं, यह बात कहते हैं ।

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकारं कुबुद्धिभिः ।
जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते ॥ ९३ ॥

उसी (प्रसिद्ध) निर्विकार अद्वितीय ब्रह्मको मूर्ख लोगोंने—जैसे कई जन्मान्ध लोग एक ही हाथीकी कई प्रकारसे कल्पना कर लेते हैं, इसी प्रकार—अनेक कल्पनाओंसे अनेकरूप बना रक्खा है ॥ ९३ ॥

प्रमाणोपपन्नस्यार्थस्याऽसम्भावनात्तदनुकम्पनीयत्वसिद्धिस्तदेतदाह।

प्रमाणोंसे सिद्ध अर्थके ऊपर भी विश्वास न करके वे लोग असम्भावना करते हैं, इसलिए कृपाके योग्य हैं, यह सिद्ध हुआ । इसी बातको कहते हैं ।

१—दृष्टिरात्मनो, भी पाठ है ।

२—दृश्यमानया, भी पाठ है । * सकलबुद्धिवृत्तिप्रकाशकम् ।

यद् यद् विशेषणं दृष्टं नात्मनस्तदनन्वयात् ।
खस्य कुम्भादिवत्तस्मादात्मा स्यान्निर्विशेषणः ॥ ९४ ॥

जो जो विशेषण दीख पड़ता है वह वह आत्मामें अन्वित नहीं होता है। क्योंकि आत्माका उन विशेषणोंके साथ, आकाशका घटादिके समान, कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आत्मा सब विशेषणोंसे रहित है ॥ ९४ ॥

अतश्चात्मनो भेदासंस्पर्शो भेदस्य मिथ्यास्वाभाव्यादत आह।

इसलिए भी आत्मामें भेदका सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि भेदका स्वरूप मिथ्या है। इसी बातको कहते हैं—

अवगत्यात्मनो यस्मादागमापायि कुम्भवत् ।
साऽहङ्कारमिदं विश्वं तस्मात्तत्स्यात्कचादिवत् ॥ ९५ ॥

चूँकि अहङ्कार सहित यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञान स्वरूप आत्मासे ही उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त हो रहा है, इसी कारण घटादिके समान आत्मासे भिन्न है, अतएव केशोण्ड्रक[1] आदिभ्रमके समान मिथ्या है ॥ ९५ ॥

सर्वस्यैवाऽनुमानव्यापारस्य[2] फलमियदेव यद्विवेकग्रहणम् तदुच्यते।

पूर्वोक्त सब अनुमान करने का फल यही है कि—तत्त्वज्ञान का उत्पन्न होना। यही अब आगे कहते हैं—

बुद्धेरनात्मधर्मत्वमनुमानात्प्रसिद्ध्यति ।
आत्मनोऽप्यद्वितीयत्वमात्मत्वादेव सिद्ध्यति ॥ ९६ ॥

बुद्धि अनात्माका धर्म है, यह बात अनुमानसे सिद्ध होती है और आत्माकी अद्वितीयता भी उसके स्वभावसे ही सिद्ध है ॥ ९६ ॥

यद्यप्ययं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यगृहीतितत्फलात्मक आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तः संसारोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामनात्मतया निर्माल्यवदपविद्धस्तथापि तु नैवासौ स्वतःसिद्धात्मव्यतिरिक्तानात्मप्रकृतिपदार्थव्यपाश्रयः साङ्ख्यानामिव, किन्तर्हि ? स्वतःसिद्धानुदिताऽनस्तमितकूटस्थात्मप्रज्ञानमात्र-

---

१—खे अक्षिदोषेण केशसदृशं किञ्चित् दृश्यते तत्केशोण्ड्रकम्—नेत्रदोष केकारण आकाशमें केशके सदृश जो प्रतीत होता है, उसको केशोण्ड्रक कहते हैं।

२—अनुमानव्यायामस्य, भी पाठ है।

शरीरप्रतिबिम्बिताऽविचारितसिद्धात्माऽनवबोधाश्रय एव। तदुपादानत्वात्तस्येतीममर्थं निर्वक्तुकाम आह।

यद्यपि यह ज्ञाता, ज्ञानसाधन; विषय और ज्ञान तथा उससे उत्पन्न होनेवाला फल, एतद्रूप ब्रह्मासे लेकर कीट पतङ्ग पर्यन्त समस्त संसार अन्वय व्यतिरेकसे अनात्मा होनेके कारण निर्माल्य (सारहीनवस्तु) के समान दूर हटा दिया। तथापि वह साङ्ख्यवादियोंके समान स्वतःसिद्ध आत्मासे भिन्न प्रकृति आदि किसी अनात्मपदार्थके आश्रित नहीं है। किन्तु स्वतः सिद्ध, सदा उदित, निरन्तर प्रकाशयुक्त, कूटस्थ तथा ज्ञानस्वरूप आत्मामें प्रतिबिम्बित अविवेकसे सिद्ध आत्मस्वरूपाज्ञान ही इस समस्त संसारका आश्रय है। क्योंकि आत्मस्वरूपका अज्ञान ही इसका उपादान कारण है। इसी बातको स्पष्ट करनेकी इच्छासे आगे कहते हैं—

ऋते ज्ञानं न सन्त्यर्था अस्ति ज्ञानमृतेऽपि तान्।
एवं धियो हिरुग्ज्योतिर्विविच्यादनुमानतः॥ ९७॥

जैसे ज्ञानके बिना विषय (पदार्थ) प्रकाशित नहीं होते, परन्तु ज्ञान उनके बिना भी प्रकाशमान है। इसी प्रकार आत्माके बिना बुद्धियाँ नहीं रहतीं। पर आत्मा बुद्धियोंके न रहने पर भी है, ऐसे अनुमान द्वारा विवेकसे आत्माको बुद्धिसे पृथक् देखना चाहिए॥ ९७॥

यस्मात्प्रमाणप्रमेयव्यवहार आत्मानवबोधाश्रय एव, तस्मात्सिद्धमात्मनोऽप्रमेयत्वम्। नैव हि कार्यं स्वकारणमतिलङ्घ्याऽन्यत्राऽकारके आस्पदमुपनिबध्नात्यत आह।

चूँकि प्रमाण, प्रमेय इत्यादि सर्व व्यवहार आत्माके न जाननेसे ही उत्पन्न हुआ है। इसलिए आत्मा किसी प्रमाणका विषय नहीं है, यह सिद्ध हुआ और कार्य कभी भी अपने कारणको उल्लङ्घन करके दूसरे स्थानमें अपनी स्थिति नहीं करता। इसलिए कहते हैं—

व्यवधीयन्त एवामी बुद्धिदेहघटादयः।
आत्मत्वादात्मनः केन व्यवधानं मनागपि॥ ९८॥

बुद्धिकी सिद्धिमें आत्म-प्रतिबिम्बकी अपेक्षा है तथा देह-सिद्धिमें बुद्धि और इन्द्रियोंकी भी अपेक्षा है। बाह्य घटादि पदार्थोंकी सिद्धिमें तो देश, कालादिकी भी अपेक्षा है। अतएव देह, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि प्रमेय हैं। आत्मा तो समस्त वस्तुओंका स्वरूप है। अतएव उसमें किसी वस्तुका व्यवधान किंचिन्मात्र भी नहीं है। इसलिए वह अप्रमेय है॥ ९८॥

स्वयमनवगमात्मकत्वादनवगमात्मकत्वं च मोहमात्रोपादानत्वात् ।

प्रमाणमन्तरेणैषां बुद्ध्यादीनामसिद्धता ।
अनुभूतिफलार्थत्वा[1]दात्मज्ञः किमपेक्षते ॥ ९९ ॥

बुद्ध्यादि पदार्थ स्वयं अज्ञानरूप अर्थात् जड़ हैं। क्योंकि उनका उपादान कारण मोहमात्र ही है। इसलिए भी उनको इतरकी अपेक्षा होनेसे उनकी अप्रकाशरूपता सिद्ध होती है। बुद्धि आदिकी सिद्धि बिना प्रमाणोंके नहीं होती। क्योंकि स्वयं वे अनुभवरूप फलसे युक्त नहीं हैं। अतएव उनको प्रमाणादिकी अपेक्षा है।

शङ्का—आत्मा भी तो उपनिषदोंके प्रमाणोंके बिना सिद्ध नहीं होता?

समाधान—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उसको अज्ञाननिवृत्तिसे अतिरिक्त और किसीकी भी अपेक्षा नहीं है ॥ ९९ ॥

वक्ष्यमाणेतरेतराध्याससिद्ध्यर्थमुक्तव्यतिरेकानुवादः ।

घटबुद्धेर्घटाच्चार्थाद् द्रष्टुर्यद्वद्विभिन्नता ।
अहंबुद्धेरहंगम्याद् दुःखिनश्च तथा दृशेः ॥ १०० ॥

आगे जिसका प्रतिपादन करेंगे उस आत्म-अनात्माके परस्पर अध्यासको सिद्ध करनेके लिए पूर्वोक्त अनात्मासे (आत्माके) भेदका अनुवाद किया जाता है—

घटज्ञान और घटस्वरूप अर्थ, इन दोनोसे जिस प्रकार द्रष्टा भिन्न है, इसी प्रकार 'अहम्'—'मैं'—इस प्रकारका ज्ञान और उसके विषय दुःखादियुक्त पदार्थसे आत्मा भिन्न है ॥ १०० ॥

एवमेतयोरात्मानात्मनोः स्वतः परतः सिद्धयोर्लौकिकरज्जुसर्पाध्यारोपवदविद्योपाश्रय एवेतरेतराध्यारोप इत्येतदाह ।

इस प्रकार जो यह स्वतः सिद्ध और परतः सिद्ध आत्मा और अनात्मा, ऐसे दो पदार्थ हैं, इनका एकका दूसरेमें अध्यास लौकिक रज्जुमें सर्पके अध्यासके समान है। यही बात कहते हैं—

अभ्रयानं यथा मोहाच्छशभृत्यध्यवस्यते ।
[2]सुखित्वादीन् धियो धर्मांस्तद्वदात्मनि मन्यते ॥ १०१ ॥

जैसे कोई मेघोंकी गमनादि क्रियाको मोहवश चन्द्रमामें समझ लेता है। इसी प्रकार सुखदुःखादि बुद्धिके धर्मोंको अज्ञानी आत्मामें समझ लेता है ॥ १०१ ॥

१—फलार्थित्वात्, भी पाठ है।

२—दुःखित्वादीन्, पाठान्तर है।

दग्धृत्वं च यथा वह्नेरयसो [1]मन्यते कुधीः ।
चैतन्यं तद्वदात्मीयं मोहात्कर्तरि मन्यते ॥ १०२ ॥

जैसे मूर्खपुरुष अग्निके धर्म–जलानेको लोहेमें समझ लेता है । वैसे ही आत्माके चैतन्यको मूर्खतावश बुद्धिका चैतन्य समझ लेता है ॥ १०२ ॥

सर्व एवाऽयमात्मानात्मविभागः प्रत्यक्षादिप्रमाणवर्त्मन्यनुपातितोऽविद्योत्सङ्गवर्त्येव न परमात्मव्यपाश्रयः । अस्याश्चाऽविद्यायाः सर्वाऽनर्थहेतोः कुतो निवृत्तिरिति चेत्तदाह ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध यह सब आत्मा और अनात्मा, इस प्रकारका द्वैत प्रपञ्च अविद्याके ही आश्रय है । परमात्माके आश्रय नहीं । इसलिए समस्त अनर्थोंकी जननी इस अविद्याकी निवृत्ति किससे होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

दुःखराशेर्विचित्रस्य सेयं भ्रान्तिश्चिरन्तनी ।
मूलं संसारवृक्षस्य तद्बाधस्तत्त्वदर्शनात् ॥ १०३ ॥

इस दुःखराशिरूप विचित्र संसार-वृक्षका बीज यही अनादिकालसे चली आती हुई भ्रान्ति है । उसका सर्वथा नाश तत्त्वज्ञानसे होता है ॥ १०३ ॥

तद् बाधस्तत्त्वदर्शनादिति कुतः सम्भाव्यते, इति चेद्त आह । आगोपालाऽविपालपंडितमियमेव प्रसिद्धिः ।

अप्रमोत्थं प्रमोत्थेन ज्ञानं ज्ञानेन बाध्यते ।
अहिरज्ज्वादिवद् बाधो देहाद्यात्ममतिस्तथा ॥ १०४ ॥

शङ्का—उस भ्रान्तिका नाश तत्त्वज्ञानसे होता है, यह कैसे सम्भावित है ?

समाधान—गोपाल और अजापालोंसे लेकर पण्डितों तक यह बात प्रसिद्ध है कि भ्रान्तिसे उत्पन्न मिथ्याज्ञान प्रमाणसे उत्पन्न यथार्थज्ञानसे बाधित होता है । जैसे रज्जुमें भ्रान्तिसे उत्पन्न सर्पका भ्रम रज्जुके यथार्थज्ञानसे निवृत्त हो जाता है । वैसे ही देहादिमें उत्पन्न आत्मबुद्धिका नाश भी आत्मज्ञानसे होता है ॥ १०४ ॥

लौकिकप्रमेयवैलक्षण्यादात्मनो नेहानधिगताधिगमः प्रमाणफलम् ।

अविद्यानाशमात्रं तु फलमित्युपचर्यते ।
नाऽज्ञातज्ञापनं न्याय्यमवगत्येकरूपतः ॥ १०५ ॥

लोकप्रसिद्ध जानने योग्य विषयोंसे आत्मा विलक्षण है, इसलिए इस आत्माको

१—मंस्यते, ऐसा तथा 'अन्धधीः, ऐसा भी पाठ है ।

प्रकाशित करना यह प्रमाणका फल नहीं हो सकता। किन्तु अविद्याका नाशमात्र ही यहाँ गौणरीत्या प्रमाणका फल व्यवहृत होता है। अज्ञात आत्माका प्रकाशित होना यह मानना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आत्मा सर्वदा ज्ञानरूप है अतएव उसमें आवरणका सम्भव ही नहीं है ॥ १०५ ॥

यस्मादात्माऽनवबोधमात्रोपादानाः प्रमात्रादयस्तस्मात्।
न विदन्त्यात्मनः सत्तां द्रष्टृदर्शनगोचराः।
न चान्योऽन्यमतोऽमीषां ज्ञेयत्वं भिन्नसाधनम् ॥१०६॥

क्योंकि आत्माके अज्ञानमात्रसे ही यह प्रमाता, प्रमाण प्रमेय इत्यादि द्वैत है इसलिए द्रष्टा (प्रमाता), दर्शन (ज्ञान) और गोचर (विषय) अर्थात् बुद्धिकी वृत्ति ये अपनी सत्ताको नहीं जानते और न ये परस्पर ही एक दूसरे को जानते हैं। क्योंकि वे जड़ हैं, इस कारणसे इनका प्रकाश किसी दूसरेके द्वारा होता है ॥ १०६ ॥

द्रष्ट्रादेरसाधारणस्वरूपज्ञापनायाह।

द्रष्टा, दर्शन और विषयका असाधारण स्वरूप बतलानेके लिए कहते हैं—

बाह्य आकारवान् ग्राह्यो ग्रहणं निश्चयादिमत्।
अन्वय्यहमिति ज्ञेयः साक्षी त्वात्मा ध्रुवः सदा ॥ १०७ ॥

ग्रहण करने योग्य अपनेसे भिन्न तथा आकारयुक्त पदार्थोंको विषय कहते हैं। निश्चय, संशय इत्यादि वृत्तियोंको ग्रहण कहते हैं। 'मैं सुनता हूँ' 'मैं निश्चय करता हूँ' 'मैं स्मरण करता हूँ' इस प्रकार निश्चयादि वृत्तियोंमें जो एक 'अहम्'—'मैं' अनुगत भासमान होता है, वह द्रष्टा है। और जो इन तीनोंके भावाभावोंका साधक, सुषुप्ति और मोक्षादि अवस्थाओंमें अनुगत, कूटस्थ तथा नित्य है, वह आत्मा साक्षी कहलाता है ॥ १०७ ॥

सर्वकारकक्रियाविभागात्मकसंसारशून्य आत्मेति कारकक्रियाफलविभागसाक्षित्वादात्मनस्तदाह।

ग्राहकग्रहणग्राह्यविभागे योऽविभागवान्।
हानोपादानयोः साक्षी हानोपादानवर्जितः ॥ १०८ ॥

आत्मा कारक, क्रिया और फल इत्यादि सर्व प्रकारके द्वैतका साक्षी है। इस कथनसे आत्मा सब प्रकारके क्रिया, कारक आदि द्वैतोंसे शून्य है, यह सिद्ध हो गया। इसी बात को कहते हैं—

ग्राहक, ग्रहण और विषय इन तीनोंके विभक्त होनेपर भी जिसका स्फुरणस्वरूपसे कभी विभाग नहीं होता तथा जो स्वयं भावाऽभावोंसे रहित होता हुआ ग्राहक आदिके भावाभावों का साक्षी है (वह आत्मा है।) ॥ १०८ ॥

ग्राहकादिनिष्ठैव ग्राहकादिभावाभावविभागसिद्धिः कस्मान्नेति चेत्तदाह ।

स्वसाधनं स्वयं नष्टो न नाशं वेत्त्यभावतः ।
अतएव न चाऽन्येषामतोऽसौ भिन्नसाक्षिकः ॥ १०९ ॥

शङ्का—पूर्वोक्त ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्राहक इत्यादि पदार्थोंकी सत्ता या असत्ताकी सिद्धि इन्हींसे क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर—ग्राहकादि पदार्थ प्रमाण रूप न होनेसे अपनी सत्ताको ग्रहण नहीं कर सकते तथा नष्ट हो जानेपर असत् हैं। इसलिए वे अपने असत्त्वका (अभावका) भी ग्रहण नहीं कर सकते। इसीलिए औरोंको भी सिद्धि इनसे नहीं हो सकती, अतएव इनका प्रकाशक—साक्षी कोई और ही है ॥ १०९ ॥

ग्राहकादेरन्यसाक्षिपूर्वकत्वसिद्धेः स्वसाक्षिणोऽप्यन्यसाक्षिपूर्वकत्वादनवस्थेति चेत्तन्न। साक्षिणो व्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वात्। अत आह।

शङ्का—ग्राहकादिकी सिद्धि यदि किसी अन्य साक्षीसे होती है, तो अपने साक्षीकी सिद्धि भी किसी दूसरे साक्षीको माननी पड़ेगी। इस प्रकारसे अनवस्था दोष आता है ?

उत्तर—साक्षीको अपनी सिद्धिके लिए किसी दूसरे कारणकी अपेक्षा नहीं है। इसलिए कहते हैं—

धीवन्नापेक्षते सिद्धिमात्माऽन्यस्मादविक्रियः ।
निरपेक्षमपेक्ष्यैव सिद्ध्यत्यन्ये न तु स्वयम् ॥ ११० ॥

आत्मा अविकारी है, अतएव बुद्धिके समान अपने प्रकाशके लिए वह दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि अन्य सब पदार्थ आत्मासे प्रकाश्य हैं; इसलिए वे आत्माके प्रकाशक नहीं हो सकते ? ॥ ११० ॥

यतो ग्राहकादिष्वात्मभावोऽविद्यानिबन्धन एव। तस्मात्।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभज्यानात्मनः स्वयम् ।
उत्पत्तिस्थितिनाशेषु योऽवगत्यैव वर्तते ।
जगतोऽविकारयाऽवेहि तमस्मीति न नश्वरम् ॥ १११ ॥

ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्यमें आत्मभाव अविद्यामूलक ही है। इसलिए—अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा स्वयं अनात्माको पृथक् करके जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और

नाश इन सब अवस्थाओंमें विकार रहित एवं अनुभवरूपसे वर्तमान है, उसीको अपना स्वरूप समझो और जो नष्ट होनेवाले ममता आदि हैं, उन्हें अपना स्वरूप मत समझो ॥ १११ ॥

स्वतः सिद्धाऽऽत्मचैतन्यप्रतिबिम्बिताऽविचारितसिद्धिकाऽऽत्माऽनवबोधोत्थेतरेतरस्वभावापेक्षसिद्धत्वात्स्वतश्चाऽसिद्धेरनात्मनो द्वैतेन्द्रजालस्य—

न स्वयं स्वस्य नानात्वं नाऽवगत्यात्मना यतः ।
नोभाभ्यामप्यतः सिद्धमद्वैतं द्वैतबाधया[1] ॥ ११२ ॥

अपनी सिद्धिके लिए दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा न करनेवाले चैतन्यस्वरूप आत्माके प्रतिबिम्बित होनेसे प्रकाशमान तथा अविवेकावस्थामें ही प्रतीत होनेवाले अतएव आत्माके अज्ञानसे ही उत्पन्न और आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखकर सिद्ध होनेवाले, स्वयं सिद्ध न होनेवाले इस द्वैतरूप इन्द्रजालका—नानात्व न तो अपने ही से वास्तवमें सिद्ध है, क्योंकि यह स्वयं जड़ है। और न चैतन्य आत्मा द्वारा इसकी वास्तविक सिद्धि हो सकती है; क्योंकि जड़ और चेतनकी एकता नहीं है। इस प्रकार जब द्वैत प्रपञ्च दोनों प्रकारसे बाधित है, तब सुतरां अद्वैत सिद्ध हुआ ॥ ११२ ॥

यथोक्तार्थद्रढिम्ने श्रुत्युदाहरणोपन्यासः ।

पूर्वोक्त अर्थको दृढ़ कनेके लिए श्रुतिवाक्योंको उद्धृत करते हैं—

नित्याऽवगतिरूपत्वात् कारकादिर्न चाऽऽत्मनः ।
अस्थूलं नेति नेतीति न जायत इति श्रुतिः ॥ ११३ ॥

आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। इसलिए उसमें कारक आदि द्वैत नहीं है। इस बातको "यह आत्मा स्थूल नहीं है" "यह नामरूपात्मक पदार्थ आत्मा नहीं है" "यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता" इत्यादि श्रुतियाँ पुष्ट करती हैं ॥ ११३ ॥

सर्वस्याऽस्य ग्राहकादेर्द्वैतप्रपञ्चस्यात्मानवबोधमात्रोपादानस्य स्वयं सेद्धुमशक्यत्वात् आत्मसिद्धेश्चानुपादेयत्वात्—

आत्मनश्चेन्निवार्यन्ते बुद्धिदेहघटादयः ।
षष्ठगोचरकल्पास्ते विज्ञेयाः परमार्थतः ॥ ११४ ॥

सम्पूर्ण बुद्धि आदि द्वैत प्रपञ्च, जोकि आत्माके अज्ञानसे ही भासमान होता है, स्वयं अपनेसे जड़ होनेके कारण सिद्ध नहीं हो सकता और आत्माकी सिद्धिका इसकी

---

[1] —द्वैतभाषया, ऐसा भी पाठ है।

सिद्धिमें उपयोग नहीं है क्योंकि वह चेतन है। उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए बुद्धि आदि पदार्थोंको आत्माके स्वरूपमें प्रवेशित न करके, उससे पृथक् देखने से, ये सब वास्तवमें असद्रूप ही प्रतीत होने लगते हैं॥ ११४॥

कुतो न्यायबलादेवं निश्चितं प्रतीयते ? यस्मात्।

नित्यां संविदमाश्रित्य स्वतःसिद्धामविक्रियाम्।
सिद्धायन्ते धियो बोधास्ताँश्चा[1]ऽऽश्रित्य घटादयः॥११५॥

शङ्का—किस युक्तिके बलसे यह निश्चित जाना जाता है ?

समाधान—जिस कारण—स्वयम्प्रकाश, निर्विकार तथा नित्य ज्ञानस्वरूप आत्माको ही आश्रय करके बुद्धिकी वृत्तियाँ सिद्ध होती हैं और उनसे ये घटादि पदार्थ सिद्ध होते हैं।॥ ११५॥

यस्मान्न कयाचिदपि युक्त्यात्मनः कारकत्वं क्रियात्वं फलत्वञ्चोपपद्यते। तस्मादात्मवस्तुयाथात्म्यानवबोधमात्रोपादानत्वान्नभसीव रजोधूमतुषारनीहारनीलत्वाद्याभासो यथोक्तात्मनि सर्वोऽयं क्रियाकारकफलात्मकसंसारोऽहंममत्वयत्नेच्छादिमिथ्याध्यास एवेति सिद्धम्। इममर्थमाह।

चूँकि किसी युक्तिसे भी आत्मामें क्रिया, कारण, फल इत्यादि भेद सिद्ध नहीं होता, इस कारण आत्मवस्तुके यथार्थ स्वरूपको न जाननेमात्रसे ही यह द्वैत उत्पन्न हुआ है। इसलिए आकाशमें रज, धूम, तुषार और नीलता इत्यादि भ्रान्तिके समान यह सब क्रिया, कारक और फल रूप संसार अहङ्कार, ममता, यत्न और इच्छा आदिका मिथ्याध्यास ही है, यह सिद्ध हुआ। इसी बातको कहते हैं—

अहं मिथ्याभिशापेन दुःख्यात्मा तद्बुभुत्सया[2]।
इतः श्रुतिं तया नेतीत्युक्तः कैवल्यमास्थित[3]ः॥ ११६॥

मिथ्याभिमानसे दुःखको आरोपित कर दुःखसे छूटनेकी इच्छासे यह आत्मा (करुणामयी जननीके समान भगवती) श्रुतिकी शरण में गया। तब 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिद्वारा भ्रान्ति जब निवृत्त हुई, तब स्वस्थ होकर कैवल्यरूप मोक्षको प्राप्त होता है॥ ११६॥

१—तांश्चाश्रित्य, ऐसा पाठ भी है। २—तद्बुभुत्सया, के स्थान में कहीं कहीं तज्जुगुप्सया' ऐसा भी पाठ हैं।

३—केवल आश्रितः, भी पाठान्तर है।

तस्याऽस्य मुमुक्षोः श्रौताद्वचसः स्वप्ननिमित्तोत्सारितनिद्रस्येवेयं निश्चितार्था प्रमा जायते ।

नाऽहं न च ममाऽऽत्मत्वात्सर्वदाऽनात्मवर्जितः ।
भानाविव तमोध्यासोऽपह्नवश्च तथा मयि ॥ ११७ ॥

उस (पूर्वोक्त) मुमुक्षुको श्रुतिवाक्योंसे स्वप्नके कारण रूप निद्रासे रहित पुरुषके समान निश्चयात्मक यह ज्ञान होता है कि—

मैं अहङ्कार नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है। मैं केवल आत्मस्वरूप हूँ। इसलिए सर्वदा अनात्मासे अस्पृष्ट हूँ। जिस प्रकार सूर्यमें अन्धकारकी भ्रान्ति होना और उसका नाश होना, दोनों ही मिथ्या हैं। इसी प्रकार मुझमें बन्ध और मोक्ष दोनों ही मिथ्या हैं ॥ ११७ ॥

सोऽयमेवं प्रतिपन्नस्वभावमात्मानं प्रतिपन्नोऽनुक्रोशति ।
यत्र त्वस्येति साटोपं कृत्स्नद्वैतनिषेधिनीम् ।
प्रोत्सारयन्तीं संसारमध्यश्रौषं श्रुतिं न किम्[1] ॥ ११८ ॥

इस प्रकार वह ब्रह्मज्ञानी सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माको पाकर पाश्चात्ताप करता है कि, आहा—"जिस अवस्थामें ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिसे सम्पूर्ण प्रपञ्च आत्मस्वरूपमें लीन हो जाता है उस अवस्थामें किस कारण से, किस वस्तुको देखे, कोई वस्तु ही पृथक् न रही!" इस प्रकार बलपूर्वक समस्त संसारका निषेध करनेवाली श्रुतियोंको मैंने क्या (पहले) नहीं सुना था ? ॥ ११८ ॥

इत्योमित्यवबुद्धात्मा[2] निष्कलोऽकारकोऽक्रियः ।
विरक्त इव बुद्ध्यादेरेकात्मत्वमुपेयिवान् ॥ ११९ ॥

इस प्रकार वह ब्रह्मज्ञानी प्रणवके अर्थ आत्मस्वरूपको जानकर अज्ञान तथा कारक आदि द्वैतसे रहित होकर बुद्ध्यादिसे विरक्त हो आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ ११९ ॥

इति श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ सम्बन्धाख्यायां

द्वितीयोऽध्यायः

—:०:—

१—संसारं मध्यश्रौषम्, भी पाठभेद है।

२—इत्योमित्येव बुद्धात्मा, ऐसा और निष्कलोऽकारकः, ऐसा पाठ भी है।

अथ नैष्कर्म्यसिद्धौ तृतीयोऽध्यायः

सर्वोऽयं प्रमितिप्रमाणप्रमेयप्रमातृत्वलक्षण आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तो मिथ्याध्यास एवेति बहुश उपपत्तिभिरभिहितम्[1]। आत्मा च जन्मादिषड्भाव-विकारवर्जितः कूटस्थबोधः एवेति स्फुटीकृतम्। तयोश्च मिथ्याध्यासकूटस्थात्मनोर्नाऽन्तरेणाऽज्ञानं सम्बन्धोऽन्यत्र चोदनापरिप्रापितात् यथा—'इयमेव ऋगग्निः साम' इति। तच्चाऽज्ञानं स्वात्ममात्रनिमित्तं न सम्भवति इति कस्यचित् कस्मिंश्चिद् विषये भवतीत्यभ्युपगन्तव्यम्। इह च पदार्थद्वयं निर्द्धारितमात्माऽनात्मा च। तत्राऽनात्मनस्तावन्नाऽज्ञानेनाऽभिसम्बन्धः[2] तस्य हि स्वरूपमेवाऽज्ञानम्। न हि स्वतोऽज्ञानस्याज्ञानं घटते, सम्भवदप्यज्ञानस्वभावेऽज्ञानं कमतिशयं जनयेत्? न च तत्र ज्ञानप्राप्तिरस्ति, येन तत्प्रतिषेधात्मक[3]मज्ञानं स्यात्। अनात्मनश्चाऽज्ञानप्रसूतत्वात्। न हि पूर्वसिद्धं सत्ततो लब्धात्मलाभस्य सेत्स्यत आश्रयस्याऽऽश्रयि सम्भवति। तदनपेक्षितस्य च तस्य निःस्वभावत्वात्। एतेभ्य एव हेतुभ्यो नाऽनात्मविषयमज्ञानं सम्भवतीति ग्राह्यम्[4]।

यह समस्त प्रमा (यथार्थज्ञान) प्रमाण (यथार्थज्ञानका साधन), प्रमेय और प्रमाता (जाननेवाला) इत्यादिरूप, ब्रह्मासे लेकर क्षुद्र कीट पर्यन्त, संसार मिथ्यारूप ही है, इस बातको अनेक युक्तियोंके द्वारा कहा। और आत्मा छः प्रकारके भाव विकारोंसे रहित, कूटस्थ ज्ञानरूप ही है, यह भी स्पष्ट कर दिया। और यह भी कह दिया है कि—मिथ्याभ्रान्तिरूप संसार और कूटस्थ आत्मा, इन दोनोंका सम्बन्ध अज्ञानके बिना नहीं है। हाँ, जहाँपर श्रुतिने उपासना के लिए अभेदका प्रतिपादन किया है। जैसे—इयमेव ऋक् अग्निः साम' यहाँ पर पृथवीमें ऋक् दृष्टि और अग्निमें सामकी दृष्टि करनेके लिए ही पृथिवीमें ऋक्का और अग्निमें सामका अभेद न होनेपर भी अभेद दिखलाया है, ऐसे स्थलों में अज्ञानके बिना भी सम्न्ध हो। परन्तु इन स्थलोंको छोड़कर अन्यत्र तो अज्ञानके बिना कभी भी सम्बन्ध नहीं होता, यह सिद्धान्त है। किन्तु उस अज्ञानकी

१—उपपत्तिभिरभिरहितम्, भी पाठ है। २—संबन्धः, ऐसा पाठ है। ३—तत्प्रतिषेध्यात्मक, पाठ भी है। ४—संभवतीति प्राह्यम्, भी पाठ है।

भी सत्ता अपने आप ही हो नहीं सकती। इसलिए किसी पुरुषका किसी विषयमें अज्ञान होता है, क्योंकि आश्रय और विषयके बिना उसका निरूपण ही नहीं होता, ऐसा मानना चाहिए। इस शास्त्रमें दो ही पदार्थ माने गये हैं आत्मा और अनात्मा। उनमें अनात्माअज्ञानका विषय और आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि अनात्माका स्वरूप ही अज्ञान है उसको और अज्ञान क्या होगा? स्वत: अज्ञान अज्ञानसे आवृत है, ऐसी बात कभी भी नहीं घटती। कदाचित् अज्ञानपर अज्ञान मान भी लें तो उससे लाभ क्या? अज्ञानमें अज्ञानसे कोई विशेष तो होनेवाला नहीं है। यदि अज्ञानमें ज्ञानकी प्राप्ति होती, तो भी उसके प्रतिषेधके लिए अज्ञानमें अज्ञान मान भी लिया जाता, सो भी नहीं। और अनात्मा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है, फिर अज्ञानका आश्रय अनात्मा कैसे हो सकता है? यह बात कभी भी मानी नहीं जा सकती कि पूर्वसे सिद्ध जो वस्तु है, वह उससे ही स्वरूप सत्ताको प्राप्त होनेवाले और प्रतीत होनेवाले पदार्थका आश्रय करके रह सकती है। इन्हीं कारणोंसे अनात्मा अज्ञानका विषय है, यह भी नहीं कह सकते।

एवं तावन्नाऽनात्मनोऽज्ञानित्वं-नाऽपि तद्विषयमज्ञानम्। पारिशेष्यादात्मन एवाऽस्त्वज्ञानं तस्याऽज्ञोऽस्मीत्यनुभवदर्शनात्। 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मवित्' इति श्रुतेः। न चाऽऽत्मनोऽज्ञानस्वरूपता, तस्य चैतन्यमात्रस्वाभाव्यात्। अतिशयश्च सम्भवति ज्ञानपरिलोपो[1] ज्ञानप्राप्तेश्च सम्भवस्तस्य ज्ञानकारित्वात्। न चाऽज्ञानकार्यत्वं, कूटस्थात्मस्वाभाव्यात्। अज्ञानानपेक्षस्य च आत्मनः स्वत एव स्वरूपसिद्धेर्युक्तमात्मन एवाऽज्ञत्वम्। किंविषयं पुनस्तदात्मनोऽज्ञानम्? आत्मविषयमिति ब्रूमः।

इस प्रकार अनात्मा अज्ञानका आश्रय और विषय जब नहीं हो सकता। फिर, बचा आत्मा। इसलिए यह मान लेना पड़ता है कि उसमें (आत्मामें) अज्ञान है क्योंकि आत्माको ही 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अज्ञान का अनुभव हो रहा है। जैसा कि श्रुतिमें भी वर्णन किया है—'हे भगवन्! मैं मन्त्रोंको ही जानता हूँ आत्माको नहीं।" और आत्मा अनात्माकी भाँति अज्ञानस्वरूप भी नहीं है। क्योंकि वह चैतन्य-स्वरूप है। इसी कारण उसमें अज्ञान माननेसे विशेष अर्थात् विलक्षणता भी बन सकती है—अज्ञानसे आत्मस्वरूप ज्ञानका आवरण होकर विपरीत रूपसे आत्माका स्फुरण तथा उस आवरण और विपरीत स्फुरणको नष्ट करनेवाले ज्ञानकी प्राप्ति भी हो सकती है। क्योंकि आत्मा अविद्यासे उत्पन्न अन्त:करणादि वृत्तिमें प्रतिबिम्बित होकर वृत्ति-

१—विचारलोपोऽज्ञानप्राप्तेः, भी पाठ है।

प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञानको उत्पन्न करता है। और वह आत्मा अज्ञानका कार्य भी नहीं है। क्योंकि वह कूटस्थ एवं नित्य है, अज्ञानकी अपेक्षाके बिना ही आत्माकी स्वतःसिद्धि है। इसलिए आत्मामें ही अज्ञानको मानना उचित है।

शङ्का—वह आत्माका अज्ञान किसको विषय करता है?

समाधान—हमारा सिद्धान्त है कि अज्ञान आत्माको ही विषय करता है।

नन्वात्मनोऽपि ज्ञानस्वरूपत्वादनन्यत्वाच्च ज्ञानप्रकृतित्वादिभ्यो हेतुभ्यो नैवाऽज्ञानं घटते? घटत एव। कथम्? अज्ञानमात्र-निमित्तत्वात्तद्विभागस्य, सर्पात्मतेव रज्ज्वाः। तस्मात्तदपनुत्तौ द्वैता-नर्थाभावः। तदपनोदश्च वाक्यादेव तत्पदार्थाभिज्ञस्य। अतो वाक्य-व्याख्यानायाऽध्याय आरभ्यते।

शङ्का—आत्मा ज्ञानस्वरूप और अद्वितीय है। इसलिए भेद ही जब नहीं है, तब वह किसीका आधार नहीं हो सकता। अतएव अज्ञानका भी आश्रय कैसे हो सकता है और आत्मामें अज्ञानके विरोधी ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति भी है। इन कारणोंसे आत्मामें अज्ञान नहीं हो सकता है?

उत्तर—आत्मा अज्ञानका आश्रय हो सकता है। क्योंकि वास्तवमें वह अद्वितीय अर्थात् भेदशून्य होने पर भी, रज्जुमें अज्ञानसे कल्पित सर्पकी भाँति, कल्पित भेद होनेके कारण अज्ञानका आश्रय है। अतएव इस अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे द्वैतरूप अनर्थका नाश होता है। और अज्ञानका नाश महावाक्यके द्वारा उसके पद-पदार्थके ज्ञाताको होता है। इसलिए अब वाक्यका व्याख्यान करनेके लिए (तृतीय) अध्यायका आरम्भ किया जाता है।

तत्र यथोक्तेन प्रकारेण तत्त्वमस्यादिवाक्योपनिविष्टपद[३]-पदार्थयोः कृतान्वयव्यतिरेकः।

यदा ना तत्त्वमस्यादेर्ब्रह्माऽस्मीत्यवगच्छति।
प्रध्वस्ताऽहंममो नैति तदा गीर्मनसोः सृतिम्॥ १॥

पूर्वोक्त प्रकारसे 'तत्त्वमसि—वह तू है' इत्यादि वाक्योंमें प्रविष्ट पद तथा उनके अर्थोंका अन्वय व्यतिरेकसे ज्ञान प्राप्त किया हुआ—पुरुष तत्त्वमस्यादि वाक्योंसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय जब कर लेता है, तब उसका अहङ्कार और ममकार नष्ट हो जाता है, फिर वह वाणी और मनके रचे सब व्यवहारोंसे अतीत (मुक्त) हो जाता है॥ १॥

३—उपनिविष्टपदार्थयोः, भी पाठान्तर है।

यदैव तदर्थं त्वमर्थेऽवैति तदैवावाक्यार्थतां प्रतिपद्यते गीर्मनसोः सृतिं न प्रतिपद्यत इति, कुत एतदध्यवसीयते ? यस्मात् ।

तत्पदं प्रकृतार्थं स्यात्त्वंपदं प्रत्यगात्मनि ।
नीलोत्पलवदेताभ्यां दुःख्यनात्मत्ववारणे ॥ २ ॥

शङ्का—जिज्ञासु पुरुष जब तत्पदके अर्थको त्वं पदके अर्थके साथ अभेदरूपसे जान लेता है, तब वह वाणी और मनके रचे व्यवहारोंसे अतीत हो जाता है, इसमें प्रमाण क्या है ?

उत्तर—प्रमाण यह है कि—'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें तत्पद अद्वितीय ब्रह्मका और त्वम्पद प्रत्यगात्माका बोधक है, अतएव 'यह नील कमल है' ऐसा कहनेसे कमलमें नीलका भेद और नीलका कमलके साथ असम्बन्ध जैसे निवृत्त हो जाता है। इसमें देश, काल तथा साधनोंकी अपेक्षा नहीं है। वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे प्रत्यगात्मामें दुःखित्वादि तथा परमात्मामें अनात्मत्वादिकी निवृत्ति होकर शुद्ध आत्मतत्त्वका बोध होता है ॥ २ ॥

एवं कृतान्वयव्यतिरेको वाक्यादेवाऽवाक्यार्थं प्रतिपद्यत इत्युक्तम् । अतस्तद्व्याख्यानाय सूत्रोपन्यासः ।

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार जिसने अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा विवेकज्ञानका सम्पादन किया है वह वाक्यसे ही वाक्य द्वारा अवाच्य—अखण्ड 'अद्वितीय' ब्रह्मरूप अर्थको जान लेता है, यह प्रतिपादन किया। इसलिए अब वाक्यसे ज्ञान किस प्रकार होता है, इसका प्रतिपादन करनेके लिए अग्रिम सूत्र (श्लोक) का उपन्यास करते हैं—

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य तीन प्रकारके सम्बन्धोंसे अखण्ड वस्तुका ज्ञान कराते हैं—उनमें (१) पहला सम्बन्ध है—पदोंका परस्पर सामानाधिकरण्य* (२) दूसरा सम्बन्ध है—विशेषण विशेष्यभाव (अर्थात् तत् पदका अर्थ ब्रह्म और त्वं पदका अर्थ जीव, इन दोनोंका परस्पर (ब्रह्मका) विशेषणरूपसे और (-जीवका) विशेष्यरूपसे बोध होना), और (३) तीसरा सम्बन्ध है—लक्ष्य लक्षण (अर्थात् तत्पदार्थ सर्वज्ञत्वादि रूप ब्रह्मधर्म और त्वंपदार्थ अल्पज्ञत्वादिरूप जीवधर्मको त्यागकर शुद्ध, अखण्ड, चिन्मात्रका लक्षणासे बोध होना) ॥३॥

---

* सामानाधिकरण्य उसे कहते है जहाँ दोनों पद एक ही विभक्तिसे युक्त होकर एक अर्थका प्रतिपादन करते हैं ।

अस्मिन्सूत्रे उपन्यस्ते कश्चिच्चोदयति—योऽयं वाक्यार्थप्रतिपत्तौ पूर्वाध्यायेनान्वयव्यतिरेकलक्षणो न्यायः सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकोऽभिहितः किमयं विधिपरिप्रापितः, किं वा स्वरसत एवाऽत्र पुमान् प्रवर्तत इति ? किञ्चाऽतः ? शृणु। यद्यात्मवस्तुसाक्षात्करणाय विधिप्रापितोऽयं न्यायस्तदाऽवश्यमात्मवस्तुसाक्षात्करणाय व्यावृत्तशुभाशुभकर्मराशिरेकाग्रमना अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यथोक्ताभ्यामात्मदर्शनं करोति। अपरिसमाप्याऽऽत्मदर्शनं ततः प्रच्यवमान आरूढपतितो भवति। यदि पुनर्यदृच्छातः प्रवर्तते तदा न कश्चिद्दोष इति। विधिपरिप्रापित इति ब्रूमः यत आह।

पूर्वपक्ष—इस प्रकार सूत्ररूप श्लोकसे उक्तविषयका प्रतिपादन करनेपर कोई कहता है कि 'यह जो पूर्व अध्यायमें वाक्यर्थ ज्ञानके लिए सर्वकर्म त्यागरूप संन्यासपूर्वक अन्वयव्यतिरेकरूप न्यायका प्रतिपादन किया, क्या वह विधिसे प्राप्त है ? किं वा स्वभावसे ही अर्थात् स्वयं ही पुरुष इस विषयमें प्रवृत्त होता है ? यदि कहो कि इस प्रश्नका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? सो सुनिए,—यदि आत्मवस्तु साक्षात्कार-करनेके लिए अन्वय व्यतिरेकरूप युक्तियोंका विचार करना विधिसे प्राप्त है, ऐसा कहो ! तब तो जिसने आत्मवस्तुके दर्शनके लिए सर्व कर्मोंका त्याग किया है और मनको एकाग्र किया है, अवश्य ही वह जिज्ञासु पुरुष अन्वय व्यतिरेक द्वारा आत्म-दर्शन कर सकता है। क्योंकि आत्मसाक्षात्काररूप फल-सिद्धि तक अनुष्ठान न करे तो (आत्मदर्शनको प्राप्त न होकर) उससे भ्रष्ट होनेसे आरूढपतित हो जाता है। यदि यदृच्छासे ही इन युक्तियोंका विचार करनेमें पुरुष प्रवृत्त होता है, ऐसा कहो तब कोई दोष नहीं है।

[इस शङ्काका तात्पर्य यह है कि—अज्ञाननिवृत्तिरूप फल अदृष्ट नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है। अतएव उसका साधन जो ज्ञान है वह भी स्वयं विधान करने योग्य नहीं है और ज्ञानके साधन श्रवणादि भी अन्वय व्यतिरेकसे ही—स्वयमेव सिद्ध हैं। फिर विधिके न रहने पर जिसको ज्ञानकी इच्छा होगी, वह स्वयं श्रवणादिमें प्रवृत्त हो जायगा। अतएव शास्त्रीय विशिष्टाधिकारी कोई न रहा और यह बात भी शास्त्र प्रसिद्ध है कि वेद अधिकारीको ज्ञान उत्पन्न करता है। यहाँ विधि न होनेसे कोई शास्त्रीय अधिकारी न रहा, तब तत्त्वमस्यादि वाक्य किसको बोध करायेंगे। सुतराम् उसके व्याख्यान करनेके लिए सूत्ररूप श्लोकका कहना व्यर्थ है ?]

सिद्धान्त—विचार करनेपर प्रवृत्ति विधि प्रयुक्त ही है। क्योंकि—

शमादिसाधनः पश्येदात्मन्यात्मानमञ्जसा ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां त्यक्त्वा युष्मदशेषतः ॥ ४ ॥
युष्मदर्थे[1] परित्यक्ते पूर्वोक्तैर्हेतुभिः श्रुतिः ।
वीक्षापन्नस्य कोऽस्मीति तत्त्वमित्याह सौहृदात् ॥५॥

"अन्वय व्यतिरेकसे अनात्माका परित्याग करके शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाधानयुक्त तथा श्रद्धायुक्त होकर आत्माको देखे ।" इस श्रुतिमें ज्ञानका विधान नहीं किया है । किन्तु जो देखे वह शान्त, दान्त होकर देखे, इस प्रकार ज्ञानसाधनके विधानमें ही इस वाक्यका पर्यवसान होनेके कारण तथा श्रवण आदि दृष्ट उपाय होनेपर भी नियम विधिके होनेमें कोई बाधा न होनेसे शास्त्रीय विशिष्ट अधिकारी मिल गया । इसलिए पूर्वाध्यायमें कथित अन्वय-व्यतिरेक हेतुओंके द्वारा अनात्म वस्तुका परित्याग करनेपर अद्वितीय आत्मवस्तुके अज्ञानसे आच्छादित होनेके कारण 'मैं कौन हूँ' ऐसी जिज्ञासा जिस पुरुषको हुई है, उसको श्रुति माताके समान बड़े प्रेमसे अज्ञान दूर करनेके लिए 'तू वही ब्रह्म है' ऐसा उपदेश करती है ॥ ४–५ ॥

अत्राऽपि चोदयन्ति साङ्ख्याः—शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिष्वनात्मस्वात्मेति निःसन्धिबन्धनं मिथ्याज्ञानमज्ञानं तन्निबन्धनो ह्यात्मनोनेकानर्थसम्बन्धस्तस्य[2] चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव निरस्त्वान्निर्विषयं तत्त्वमस्यादिवाक्यं प्राप्तम् । तस्माद् वाक्यस्य चैष महिमा योऽयमात्मानात्मनोर्विभाग इति, तन्निकरणायेदमुच्यते ।

इसपर भी साङ्ख्यवादी लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि—"शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूप अनात्माओंमें, यह आत्मा है, इस प्रकार बिलकुल भेदका तिरोधान होकर जो ऐक्यका ज्ञान है वही मिथ्याज्ञान अज्ञान है । (इससे अतिरिक्त एक अनादि अज्ञान है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है ।) इसी मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानसे आत्मामें अनेक अनर्थोंकी उत्पत्ति हुई है । इस मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति अन्वयव्यतिरेकसे ही जब सिद्ध है, फिर तत्त्वमस्यादि वाक्यकी क्या आवश्यकता है ? अतएव वह वाक्य निर्विषय ही प्राप्त हुआ ? इसलिए कहना चाहिए कि वाक्यका यही माहात्म्य अर्थात् प्रयोजन है कि "आत्मा और अनात्माका विभाग करना; इसके सिवाय और कुछ नहीं ?" इस आशङ्काका निराकरण करनेके लिए इस अग्रिम प्रकरणका आरम्भ करते हैं—

---

१ युष्मद्यथ ।
२ अनेकार्थसम्बन्धः ।

भेदसंविदिदं ज्ञानं भेदाभावश्च साक्षिणि ।
कार्यमेतदविद्याया ज्ञात्मना त्याजयेद्वचः ॥ ६ ॥

जो यह आत्मा और अनात्माका विवेकज्ञान है, वह भेद निश्चयका फल है। श्रुतियोंसे साक्षिचैतन्यमें भेदका अभाव सुना जाता है। इसलिए यह विवेकज्ञान भेद-शून्य वस्तुमें होनेसे अविद्याका कार्य अर्थात् भ्रान्तिरूप है, अतएव वह वाक्य-जन्य नहीं है। किन्तु वाक्य अखण्ड अद्वितीय चैतन्यका ज्ञान उत्पन्न करके कार्यसहित इस अज्ञानको दूर कर देता है ॥ ६ ॥

'ज्ञात्मना त्याजयेद् वचः' इत्युपश्रुत्याह कश्चित्—मिथ्याज्ञान-व्यतिरेकेणात्मानवबोधस्याऽभावात्किं वाक्येन निवर्त्यते ? अज्ञानं हि नाम ज्ञानाभावः तस्य चाऽवस्तुस्वाभाव्यात् कुतः संसारकारणत्वम् ? न ह्यसतः सज्जन्मेष्यते—'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति कथमसतः सज्जायते' इति श्रुतेरिति । अत्रोच्यते—

'तत्त्वमसि' वाक्य अद्वितीय बोधाकार वृत्तिद्वारा ब्रह्मरूपताको प्राप्त कराकर अविद्याकी निवृत्ति करते हैं; इस बातको सुनकर कोई वादी शङ्का करते हैं कि मिथ्या-ज्ञानरूप भ्रान्तिज्ञानसे अतिरिक्त तथा ज्ञानाभावसे अतिरिक्त भावरूप अज्ञान नामक पदार्थ ही नहीं है। फिर वाक्यके द्वारा किसकी निवृत्ति की जाय ? अज्ञान कहनेसे ज्ञानका अभाव बोधित होता है, इसलिए अज्ञान अभावरूप है। अभाव तो कोई चीज़ नहीं है। फिर वह संसारका कारण किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि अभावसे कभी भाव-की उत्पत्ति नहीं होती। श्रुति भी कहती है कि—हे प्रियदर्शन! भला यह बात किस प्रमाणसे सिद्ध हो सकती है असत्से सत् कैसे हो सकता है ? इस शङ्काके समाधानके लिए कहते हैं—

अभावके ज्ञानमें, उसके प्रतियोगीका ज्ञान (जिसका अभाव हो उसको प्रति-योगी कहते हैं उसका ज्ञान) और धर्मीका ज्ञान (जहाँपर अभावका ज्ञान हो उसको धर्मी कहते हैं उसका ज्ञान) आवश्यक है। धर्मी और प्रतियोगीके ज्ञानके बिना अभावका ज्ञान कभी नहीं होता। जब ऐसा नियम है तब विचार करना चाहिये कि अज्ञान यदि ज्ञानाभावरूप हो तो सोकर उठनेके बाद प्राणिमात्रको इस प्रकार स्मरण होता है कि—"मैं अबतक कुछ भी नहीं जानता था।" यदि यह ज्ञानाभावका ही स्मरण है, तो स्मरण अनुभवके बिना नहीं होता, इसलिए सुषुप्ति दशामें ज्ञानाऽभावका अनुभव हुआ है, ऐसा कहना पड़ेगा, किन्तु यह बात उपपन्न नहीं होती। कारण, अभावके ज्ञानमें धर्मी और प्रतियोगीके ज्ञानकी आवश्यकता है। यदि उस समय धर्मी और प्रतियोगीका ज्ञान हो तब सुषुप्ति ही नहीं होगी और ज्ञानाभाव भी नहीं होगा। क्योंकि धर्मी और प्रतियोगीका

ज्ञान है, इसलिए सुषुप्तिमें ज्ञानाभावका अनुभव नहीं हो सकता। सुतराम् उठनेके बाद स्मरण भी नहीं हो सकता। इसलिए उत्थानानन्तर "मैं अब तक कुछ भी नहीं जानता था" ऐसा जो ज्ञान होता है वह सुषुप्ति कालमें ज्ञानाभावका अनुमानरूप है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमानमें कोई हेतु नहीं है। यदि कहो कि स्मरण न होना यही हेतु हो सकता है—यदि सुषुप्तिकालमें कोई भी ज्ञान होता तो हमको अवश्य उसका स्मरण होता। स्मरण नहीं होता है, इसलिए सुषुप्ति कालमें कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा अनुमान कर सकते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञान होनेसे ही उसका स्मरण कालान्तरमें जरूर हो। ऐसा बहुत देखा जाता है कि बाल्यावस्था में बहुत-सी बातोंका ज्ञान हुआ है, परन्तु वृद्धावस्थामें उन सबका स्मरण नहीं होता। अतएव उत्थानानन्तर स्मरण नहीं होता। इसलिए उस समय ज्ञान नहीं था, ऐसा अनुमान नहीं कर सकते। अतः जिस कारण स्मरण होता है उसी कारणसे सुषुप्ति दशामें भावरूप अज्ञानका साक्षीरूप अनुभव है, ऐसा कहना चाहिए। इसीसे भावरूप अज्ञान सिद्ध हुआ। क्योंकि जिस कारण धर्मी और प्रतियोगीके ज्ञान होनेके पूर्व सभी पदार्थ अज्ञात रहता है। यदि सभी पदार्थ अज्ञानके विषय हैं, ऐसा कहिये? तो पहले जो कहा था कि आत्मा ही अज्ञानका विषय है, यह बात गयी? इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—

अज्ञात एव सर्वोऽर्थः प्राग्यतो बुद्धिजन्मनः।
एकेनैव सता संश्च[1] सन्नज्ञातो भवेत्ततः॥ ७॥

नामरूपात्मक सारा प्रपञ्च प्रलयकालके सदृश, सुषुप्तिमें अज्ञातसद्रूप—वस्तुमात्ररूपसे प्रलीन होता है। फिर प्रबोध समयमें उद्भूत होता है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। क्योंकि—श्रुतियोंमें सुषुप्तिमें प्रलय और जाग्रत्में सृष्टिका कथन किया है। द्वैतमात्र शुक्तिमें रजतके सदृश कल्पित है, इसलिए अपने अधिष्ठान—सद्रूप ब्रह्मसे पृथक्रूपमें उसकी स्थिति भी नहीं हो सकती है। अतएव सुषुप्तिकालमें एक ही सद्रूप ब्रह्मसे समस्त वस्तुओंकी सत्ता है। वही सद्रूप (ब्रह्म) अनादि अज्ञानका विषय है, उससे भिन्न वस्तुमात्र अज्ञानसे कल्पित होनेके कारण अज्ञानका विषय नहीं हो सकता। इसलिए सत्पदार्थ ही सुषुप्तिमें अज्ञात है, अतएव आत्मा ही अज्ञान का विषय है, यह सिद्धान्त त्यक्त नहीं हुआ।

[अथवा प्रकारान्तरसे इस श्लोककी व्याख्या हो सकती है—]

जाग्रत् अवस्थामें भी सभी पदार्थ ज्ञान होनेके पहले अज्ञात रहते हैं, इस बातको सभी स्वीकार करते हैं। क्योंकि यदि पहले वस्तुका ज्ञान रहे तो पीछेसे तद्विषयक ज्ञान नहीं हो सकता है। जिस समय ज्ञान नहीं है, उस समय वस्तुका व्यवहार नहीं हो सकता।

---

१ सता सत्त्वम्।

सामान्याकारसे ज्ञान होनेपर भी अज्ञाताकारकी ज्ञातता नहीं हो सकती और अज्ञात आकारका अनुवाद भी नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानाऽभावसे विलक्षण भावरूप अज्ञानसे वह आवृत है, ऐसा कहना चाहिए। यदि सभी पदार्थ अज्ञात हों, तब प्रमाणके बिना अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्माके सदृश उनको भी प्रमेयत्व प्राप्त हुआ। इस आशङ्काकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि समस्त विशेषोंमें अनुगत-रूपसे रहनेवाला सत्पदार्थ ही अज्ञात होनेके कारण प्रमेय है। न कि अन्य पदार्थ। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सत्य पदार्थ ही अज्ञात है ॥ ७ ॥

'सन्नज्ञातो भवेत्ततः' इत्युक्तमधस्तनेन श्लोकेन। कोऽसौ सन्नज्ञातः? इत्यपेक्षायां तत्स्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह—

सद्रूप वस्तु ही अज्ञानका विषय है, यह पहले श्लोकसे कहा। वह सत्पदार्थ क्या है, जो कि अज्ञानका विषय होता है? ऐसी आशङ्का होनेपर उसका स्वरूप बतलानेके लिए कहते हैं—

प्रमित्सायां य आभाति स्वयं मातृप्रमाणयोः।
स्वमहिम्ना च यः सिद्धः सोऽज्ञातार्थोऽवसीयताम् ॥ ८ ॥

जिस समय किसी पदार्थको जाननेकी इच्छा होती है उस समय जो प्रमाता और प्रमाणोंके स्फुरणरूपसे स्फुरण समयमें प्रकाशमान होता है जब जाननेकी इच्छा नहीं होती उस समय उसके अभाव को प्रकाशित करता हुआ सुषुप्ति कालमें स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है। वही सद्रूप (आत्मा) अज्ञानका विषय है, ऐसा जानिए ॥ ८ ॥

अत्र केचिदाहुः 'यत्किञ्चिदिह[1] वाक्यं लौकिकं वैदिकं वा तत्सर्वं संसर्गात्मकमेव वाक्यार्थं गमयति। अतस्तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः संसर्गात्मकमहं ब्रह्मेति विज्ञाय तावन्निदिध्यासीत यावदवाक्यार्थात्मकः प्रत्यगात्मकः प्रत्यगात्मविषयोऽहं ब्रह्मेति समभिजायते[2] तस्मादेवं विज्ञानात्कैवल्यमाप्नोति' इति। तन्निराकरणायेदमुच्यते—

इसपर कोई लोग ऐसा कहते हैं कि जगत्में लौकिक अथवा वैदिक जितने प्रकारके वाक्य होते हैं, वे सभी संसर्गरूप वाक्यार्थको ही बोधित करते हैं। इसलिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे संसर्ग रूपसे (अर्थात् दोनों पदार्थोंके परस्पर भेदसे) प्रथम ब्रह्मको जानकर पश्चात् तब तक निदिध्यासन करे जब तक वाक्यार्थरूप न होनेवाला अखण्ड प्रत्यगात्मरूप प्रत्यगात्माको ही विषय करनेवाला—'मैं ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा ज्ञान

---

१ यावत्किञ्चित्।
२ समभिज्ञायते।

उत्पन्न हो। इस ज्ञानसे ही कैवल्य होता है।" इस मतका निराकरण करनेके लिए यह कहते हैं—

सामानाधिकरण्यादेर्घटेतरखयोरिव ।
व्यावृत्तेः स्याद्वाक्यार्थः साक्षान्नस्तत्त्वमर्थयोः ॥ ९ ॥

यद्यपि यह नील कमल है, इत्यादि प्रयोगोंमें सामानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्य भावसे संसर्गात्मिक (नील और कमलका) नीलरूपवाला कमल है, ऐसा ज्ञान होता है। तथापि घटाकाश महाकाश है इत्यादि लौकिक वाक्योंमें घटविशिष्ट आकाश और महाकाश इन दोनोंका परस्पर जो विरोध है उसको दूर करनेके लिए लक्षणा द्वारा घटाकाशका परिच्छिन्नत्व और महाकाशका महत्त्वरूप धर्म हटाकर केवल आकाशस्वरूप मात्रका ही बोध जैसे उत्पन्न होता हुआ दीख पड़ता है वैसे ही 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्योंमें भी पदोंका परस्पर सामानाधिकरण्य[1] और विशेषण-विशेष्य-भाव होनेके कारण सम्बन्ध प्राप्त होनेपर भी विरोध परिहारके लिए त्वंपदार्थके दुःखित्वादि धर्म और तत्पदार्थके परोक्षत्वादि धर्मोंकी लक्षणा द्वारा व्यावृत्ति (निराकरण) कर देनेसे अखण्ड एकरस ब्रह्म वस्तुका बोध होता है, इसलिए पूर्वोक्त निदिध्यासनकी अपेक्षा नहीं है ॥ ९ ॥

कुतो वाक्यार्थोऽवसीयते इति चेत्? तत्प्रतिपत्त्यर्थं विशेषण-विशेष्ययोः सामर्थ्योक्तिः

एक पदसे कहीं भी वाक्य नहीं बनता, इसलिए वाक्यकी आवश्यकता हो तो अनेक पदोंका ग्रहण करना चाहिये इसपर भी सभी पद एकही अर्थके बोधक हों तो पौनरुक्त्य दोष होगा। अतएव अपुनरुक्तार्थक पदोंका अखण्ड अर्थमें पर्यवसान नहीं बनता; इसलिए संसर्गको ही वाक्यार्थ मानना पड़ेगा। फिर—अखण्डार्थका बोध कैसे हो सकता है? ऐसा आक्षेप यदि कोई करे, तो उसको दूर करने के लिए' अखण्डार्थ ज्ञानके लिए विशेषण और विशेष्यका सामर्थ्य दिखाते हैं—

निर्दुःखित्वं त्वमर्थस्य तदर्थेन विशेषणम् ।
प्रत्यक्ता च तदर्थस्य त्वंपदेनाऽस्य सन्निधेः ॥ १० ॥

तत्पदार्थके साथ अभेद होनेसे त्वंपदार्थके दुःखित्वादि धर्म दूर हो जाते हैं। ऐसे ही त्वंपदार्थके सन्निधानसे तत्पदार्थके भी परोक्षत्वादि धर्म निवृत्त हो जाते हैं ॥१०॥

उक्तं सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावश्च संक्षेपतः । अथ लक्ष्यलक्षणव्याख्यानायाऽऽह—

---

१ एक विभक्तिसे युक्त होकर एक अर्थका प्रतिपादन करना।

कूटस्थबोधप्रत्यक्त्वमनिमित्तं सदात्मनः ।
बोद्धृताहन्तयोर्हेतुस्ताभ्यां तेनोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥

सामानाधिकरण्य और विशेषण विशेष्य भावका संक्षेपसे व्याख्यान कर दिया । अब लक्ष्य-लक्षण भाव रूप तृतीय सम्बन्धका व्याख्यान करनेके लिए कहते हैं—

आत्माकी लक्ष्यभूत कूटस्थज्ञानरूपता तथा प्रत्यग्रूपता सर्वकालमें स्वाभाविक है । स्वभावसे बोधरहित जड़रूप बुद्धिमें बोद्धृत्व और अहन्ताका वही हेतु है । इसलिए बुद्धिनिष्ठ बोद्धृत्व और अहन्तासे आत्मा लक्षित होता है । इस प्रकारसे त्वंपदका वाच्यार्थ जो बुद्धि-विशिष्ट चैतन्य है वह लक्षण और शुद्ध आत्मा लक्ष्य सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

बुद्धेः कूटस्थबोधप्रत्यक्त्वनिमित्ते बोद्धृता प्रत्यक्त्वे ये असाधारणे तयोर्विशेषवचनम्—

बोद्धृता कर्तृता बुद्धेः कर्मता स्यादहन्तया ।
तयोरैक्यं तथा बुद्धौ पूर्वयोरेवमात्मनि ॥ १२ ॥

बुद्धिनिष्ठ बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्व यदि शुद्ध चैतन्यनिष्ठ बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्वका निमित्त हो, तब दोनोंका कुछ विशेष कहना चाहिए । नहीं तो दोनोंका हेतुहेतुमद्भाव नहीं हो सकेगा । इसलिए बुद्धि और चैतन्य, दोनोंमें जो बोद्धृत्व प्रत्यक्त्व है उनका वैलक्षण्य कहते हैं—

बुद्धिमें जो बोद्धृत्व है, वह विविध विषयाकारोंसे युक्त ज्ञानरूप परिणामका कर्तृत्वरूप ही है । आत्माके सदृश कूटस्थ ज्ञानरूप नहीं है । वैसे ही बुद्धिका प्रत्यक्त्व भी यही है जो अहंरूप अर्थात् शबलरूपसे चैतन्यका कर्म अर्थात् भास्य होना । न कि आत्माके समान प्रत्यक्त्व है कतिपय देह, इन्द्रिय, विषय इत्यादिकोंकी अपेक्षासे बुद्धिको प्रत्यक्त्व है, किन्तु बुद्धिमें होनेवाले बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्वका जैसा परस्पर अभेद है, वैसा ही आत्मनिष्ठ बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्वका भेद नहीं है किन्तु भिन्नके समान प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः एक ही है ॥ १२ ॥

यथा बुद्धौ पूर्वयोरेवमात्मनीत्यतिदेशेन बुद्धिसाधर्म्यविधानान्नानात्वप्रसक्तौ तदपवादार्थमाह—

धर्मधर्मित्वभेदोऽस्याः सोऽपि नैवाऽऽत्मनो यतः ।
प्रत्यग्ज्योतिरतोऽभिन्नं भेदहेतोरसम्भवात् ॥ १३ ॥

जैसे बुद्धिके बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्वका परस्पर भेद नहीं है । ऐसे ही आत्मनिष्ठ कूटस्थ बोध और प्रत्यक्त्वका भेद नहीं, ऐसा बुद्धिके साथ आत्माका सादृश्य दिखलाया ।

उसको सुनकर यदि किसीको ऐसी शङ्का हो कि आत्मा धर्मी है ये दोनों धर्म हैं। अतएव भेद तो रहा ही। तो इस शङ्काको निवृत्त करनेके लिए कहते हैं—

बुद्धि में धर्मधर्मिभावरूपसे भेद हो सकेगा। परन्तु आत्मामें उस प्रकारका भी भेद नहीं है। क्योंकि भेद होनेमें कोई प्रमाण नहीं, इसलिए कूटस्थ ज्ञान और प्रत्यक्त्व रूप आत्मा है; ये दोनों धर्म हैं। आत्मा उनका आश्रय है। इस प्रकार भेद नहीं है ॥ १३ ॥

भेदहेत्वसम्भवं दर्शयन्नाह—

न कस्याञ्चिदवस्थायां बोधप्रत्यक्त्वयोर्भिदा
व्यभिचारोऽथवा दृष्टो यथाऽहं तद्विदो सदा ॥ १४ ॥

भेदके कारणकी कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इस बातको दिखलाते हुए कहते हैं कि—किसी भी अवस्थामें बोध और प्रत्यक्रूपता, इन दोनोंका भेद नहीं दीखता। अथवा परस्पर व्यभिचार भी नहीं दृष्ट होता। जैसे—अहंकार और समीक्षाका परस्पर एक जड़ दूसरा चेतन होनेके कारण भाष्य भासक भावरूपसे भेद है। किंवा—सुषुप्तिमें साक्षी विद्यमान होनेपर भी अहङ्कार नहीं है, ऐसे बोध और प्रत्यक्त्वका किसी प्रकार भेद नहीं है ॥ १४ ॥

यस्मादज्ञानोपादानाया एव बुद्धेर्भेदो न आत्मनस्तस्मादेतत्सिद्धम्—

कूटस्थबोधतोऽद्वैतं साक्षात्त्वं प्रत्यगात्मनः ।
कूटस्थबोधाद् द्रोद्‍ध्री धीः स्वतो हीयं विनश्वरी ॥ १५ ॥

जिस कारण अज्ञानसे उत्पन्न बुद्धिका ही भेद है, आत्माका नहीं। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि—

आत्माका कूटस्थ ज्ञान ही स्वरूप है। अतएव समस्त बुद्धियोंमें परस्पर भेद होनेपर भी इसकी एकता ही है। तथा सर्वत्र प्रत्यक्त्वरूपता ही है। परोक्षरूपता नहीं है। किन्तु बुद्धिमें जो द्रष्टृत्व प्रतीत होता है वह आत्माके ही सम्बन्धसे है। क्योंकि स्वयं बुद्धि अनित्य है ॥ १५ ॥

अथाऽधुना प्रकृतस्यैव परिणामिनः कूटस्थस्य च लक्षणमुच्यते—

विशेषं कञ्चिदाश्रित्य यत्स्वरूपं प्रतीयते ।
प्रत्यभिज्ञाप्रमाणेन परिणामी स देहवत् ॥ १६ ॥

सामान्याच्च विशेषाच्च स्वमहिम्नैव यो भवेत् ।
व्युत्थायाऽप्यविकारी स्यात्कुम्भाकाशादिवत्तु नः ॥१७॥

यहाँ तकके ग्रन्थसे परिणामी अहंकारसे कूटस्थ आत्मा कैसे लक्षित होता है, इस बात को दिखलाया, अब इन दोनों का लक्षण कहते हैं—

मैं घटको जानता हूँ, पटको जानता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, इस प्रकार विशेषका आश्रय करके जिसका स्वरूप प्रतीत होता है अर्थात् बाल्य यौवनादि अवस्थाका भेद जैसा है, वैसा अहङ्कारका भी अवस्थाभेद है। तो भी जो मैं पहले सुखी था, वही मैं इस समय दुःखी हूँ, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञाके बलसे एकसा प्रतीत होता है, देहकी भाँति वह परिणामी है ॥ १६ ॥

जो सामान्य और विशेषको आश्रय न कर उनसे पृथक्रूप होकर स्वप्रकाश रूपसे ही प्रतीत होता है, वह कूटस्थ कहलाता है। जैसे घटाकाश, मठाकाश इत्यादि प्रकारसे उपाधियुक्त रूपसे भासमान होनेपर भी आकाश घयादि उपाधिगत विकारोंसे विकृत नहीं होता, किन्तु इनसे पृथक्रूपसे रहकर कूटस्थ ही रहता है। वैसे ही आत्मा विकारको प्राप्त न होकर कूटस्थ ही रहता है ॥ १७ ॥

आत्मनो बुद्धेश्च बोधप्रत्यगात्मत्वमभिहितं तयोरसाधारण-लक्षणाभिधानार्थमाह—

बुद्धेर्यत्प्रत्यगात्मत्वं तत्स्याद्देहाद्युपाश्रयात् ।
आत्मनस्तु स्वरूपं तन्नभसः सुपिता यथा ॥ १८ ॥
बोद्धृत्वं तद्वदेवाऽस्याः प्रत्ययोत्पत्तिहेतुतः ।
आत्मनस्तु स्वरूपं तत्तिष्ठन्तीव महीभृतः ॥ १९ ॥

इस प्रकार लक्ष्य लक्षणरूप आत्मा और बुद्धि, इन दोनोंकी बोधरूपता तथा प्रत्यगात्मरूपताका वर्णन किया। अब इन दोनों रूपोंका असाधारण लक्षण कहते हैं—

बुद्धिमें जो प्रत्यक्रूपत्व प्रतीत होता है वह देहादिकी अपेक्षासे प्रतीत होता है। आत्माकी जो प्रत्यक्रूपता है वह किसी अन्य की अपेक्षासे नहीं है किन्तु वह आत्माका स्वाभाविक स्वरूप है जैसे आकाशका पोलापन स्वाभाविक है ॥ १८ ॥

ऐसे ही बुद्धि में जो बोद्धृत्व है, वह भी तत्तद्विषयाकारसे परिणत बुद्धिवृत्ति-रूप बोधकर्तृत्वरूप है। क्योंकि जब बुद्धिका विषयाकारसे परिणाम होकर वृत्तिमें चैतन्य-का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी समय बुद्धिमें बोद्धृत्व व्यवहार होता है नहीं तो नहीं। किन्तु आत्माका बोद्धृत्व वैसा नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है। जैसे चञ्चल पदार्थोंमें गति निवृत्ति जब होती है तब ये खड़े हैं, इस प्रकार 'स्था' धातु का प्रयोग होता है।

परन्तु जो स्वभावसे ही गति-क्रिया-शून्य पर्वतादि हैं, उनमें स्वभावसिद्ध अचलत्वकी दृष्टिसे ही 'स्था' धातुका प्रयोग होता है ॥ १९ ॥

तयोः कूटस्थपरिणामिनोरात्माऽनवबोध एव सम्बन्धहेतुर्न-पुनर्वास्तवः कश्चिदपि सम्बन्ध उपपद्यत इत्याह—

सम्यक्संशयमिथ्यात्वैर्धीरेवेयं विभज्यते ।
हानोपादानताऽमीषां मोहादध्यस्यते दृशौ ॥ २० ॥

ऐसे कूटस्थ और परिणामी आत्मा और अहङ्कारका परस्पर सम्बन्ध करानेवाला अज्ञान ही है और कोई दूसरा वास्तविक अर्थात् सत्य पदार्थ नहीं है। इस बातको कहते हैं—

तत्त्वज्ञान, संशय और भ्रान्ति इत्यादि धर्मोंसे बुद्धि ही युक्त है। अतएव इन धर्मोंकी सत्ता या असत्ता अज्ञानवश साक्षीमें आरोपित होती है। इसलिए साक्षीमें कोई विशेष धर्म नहीं है ॥ २० ॥

कुतः कूटस्थात्मसिद्धिरिति चेत्, यतः—

न हानं हानमात्रेण नोदयोऽपीयता यतः ।
तत्सिद्धिः स्यात्तु तद्धीने हानादानविधर्मिणि[1] ॥२१॥

बुद्धि सम्बन्धके बिना आत्मामें बोद्धृत्व नहीं दीख पड़ता, इसलिए आत्माकी कूटस्थता कैसे सिद्ध होगी ? इस शङ्काको दूर करते हैं—

बुद्धि और उसकी वृत्ति, इनका हान अर्थात् अभाव वह केवल अपनेसे ही सिद्ध नहीं हो सकता, तथा इनका उदय यानी सद्भाव भी उसीसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वे जड़ हैं। अतएव हानोपादान रहित साक्षीमें अध्यस्त होनेसे ही हो सकता है। इसलिए कूटस्थ साक्षी मानना चाहिए, जिससे इनकी सिद्धि होवे ॥ २१ ॥

एवम्—

आगमापायिहेतुभ्यां[2] धृत्वा सर्वाननात्मनः ।
ततस्तत्त्वमसीत्येतद्धन्त्यस्मादि[3] निजं तमः ॥ २२ ॥

इस प्रकार—'तत्त्वमसि' यह वाक्य अन्वय और व्यतिरेकसे आत्मा और

---

१ हानादानविधर्मके, हानादानविधर्मिणम्, हानोपादानधर्मके, ऐसा ऐसा पाठ भेद भी उपलब्ध होता है।

२ आगमापायहेतुभ्याम्, ऐसा भी पाठ है।

३ यस्मादिद्धं निजं तमः, पाठ भी है।

अनात्मा, दोनोंके विवेकज्ञानको उत्पन्नकर पश्चात् सकल संसारको प्रलय करनेवाले आत्माश्रित अज्ञानको नष्ट कर देता है॥ २२॥

इत्यादि पुनः पुनरुच्यते ग्रन्थलाघवाद् बुद्धिलाघवं प्रयोजकमिति। तत्र यद्यपि तत्त्वमस्यादिवाक्यादुपादित्सिताऽद्वितीयात्मार्थवत्पारोक्ष्यसद्वितीयोऽर्थः प्रतीयते। तथापि तु नैवासावर्थः श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपिपादयिषितः प्रागप्येतस्य प्रतीतत्वादितीममर्थमाह—

'यदा ना तत्त्वमस्यादेर्ज्ञात्मना त्याजयेद्वचः' इत्यादि ग्रन्थके द्वारा पहले अनेक बार इसका प्रतिपादन किया, इसलिए पुनरुक्ति क्यों करते हो? ऐसी शङ्का यदि कोई करे तो उसका समाधान यह है कि आत्मवस्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे बुद्धिमें स्थिर नहीं होती। इसका विस्तृतरूपसे प्रथम ही यदि प्रतिपादन करने लग जायँ तो उसका धारण नहीं होगा। अल्पग्रन्थसे अनेक बार कहनेसे समझनेमें सौकर्य होता है। इसलिए ग्रन्थलाघवकी अपेक्षासे बुद्धिमें लाघव अर्थात् सौकर्य होगा। इस अभिप्रायसे कथितका ही पुनः कथन किया जाता है। यद्यपि तत्त्वमस्यादि वाक्यसे ग्रहण करनेके लिए अभीष्ट अद्वितीय आत्मरूप अर्थके सदृश परोक्षता और सद्वितीयताका प्रतिपादन श्रुति तात्पर्यसे नहीं करना चाहती। क्योंकि वाक्य श्रवणके पहले ही सबको यह बात मालूम है। अतएव ज्ञात वस्तुको वाक्य पुनः क्यों प्रतिपादन करेगा? उसका प्रतिपादन करनेसे कोई फल भी नहीं है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—

तदित्येतत्पदं लोके बह्वर्थप्रतिपादकम्।
अपरित्यज्य पारोक्ष्यमभिधानोत्थमेव तत्॥ २३॥

'लोकमें' तत् पद देशकालव्यवधाननिमित्तक परोक्षत्वका परित्याग न करके अनेक अर्थोंका बोधन करता है, ऐसा प्रतीत होता है। तथापि शब्दसे वह परोक्षत्व अभिधाशक्तिके द्वारा आपातरूपसे प्रतीतमात्र होता है। वस्तुसे उसका स्पर्श नहीं है। तथा उसका प्रतिपादन करना श्रुतिको इष्ट भी नहीं है॥ २३॥

त्वमित्यपि पदं तद्वत् साक्षान्मात्रार्थवाचि तु।
संसारितामसन्त्यज्य साऽपि स्यादभिधानजा॥ २४॥

तथा त्वंपद भी पहलेसे ही ज्ञात, जो संसारित्व है, उसका परित्याग न करके ही नित्य अपरोक्ष वस्तुका बोधक है। इसलिए वह संसारिता भी आपातदृष्टिसे शब्दके द्वारा भासमान होती है। वस्तुसे उसका सम्बन्ध नहीं है॥ २४॥

विरुद्धोद्देशनत्वाच्च पारोक्ष्यदुःखित्वयोरविवक्षिततत्वमित्याह—

उद्दिश्यमानं वाक्यस्थं नोद्देशनगुणान्वितम्।
आकाङ्क्षितपदार्थेन संसर्गं प्रतिपद्यते॥ २५॥

तत् त्वं पदार्थका निर्देश भी विरुद्ध है, इसलिए परोक्षत्व, दुःखित्व यहाँ विवक्षित नहीं है, यह कहते हैं—

'तत्त्वमसि'—वाक्यमें उद्दिश्यमान त्वं पदार्थात्मक वस्तु उद्देश्य दशामें प्रतीत होनेवाले संसारित्व गुणसे युक्त होकर विधेय जो सकल संसार रहित वस्तु है उसके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसे ही तत्पदार्थ भी उद्देश हो तो उस समय भी वह परोक्षत्वादि विरुद्ध गुणोंसे युक्त होकर नित्य अपरोक्ष प्रत्यगात्माके साथ अन्वित नहीं हो सकता इसलिए दोनों जगह विरुद्ध धर्मोंकी अविवक्षा है ॥ २५ ॥

यत एतदेवमतोऽनुपादित्सितयोरपि तत्त्वमर्थयोर्विशेषणविशेष्यभावो भेद[1]रहितसंसर्गवाक्यार्थलक्षणयैवेति उपसंहारः—

तदो विशेषणार्थत्वं विशेष्यत्वं त्वमस्तथा।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तयोः स्यात्प्रत्यगात्मना ॥ २६ ॥

क्योंकि विरुद्ध धर्मोंकी विवक्षा यहाँ नहीं है, इसीलिए अनुपादित्सित अर्थात् अविवक्षित भी त्वंपदार्थ और तत्पदार्थका विशेषण विशेष्यभाव भेद न रहनेके कारण संसर्ग किंवा विशिष्टरूप वाक्यार्थसे भिन्न अखण्डरूप वाक्यार्थमें ही लक्षणाद्वारा पर्यवसित होता है। ऐसा उपसंहार करते हैं—

तत्पदार्थ विशेषण है और त्वंपदार्थ विशेष्य है। क्योंकि वह सामान्यरूपसे प्रसिद्ध है, और उसीमें ब्रह्मत्वज्ञानसे अनर्थनिवृत्तिपूर्वक पुरुषार्थ सिद्ध होनेवाला है। इन दोनोंमें विरोधस्फूर्ति हो तो दोनों पदार्थोंसे लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्धसे शुद्ध अखण्ड आत्माका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

कथं पुनरविवक्षितविरुद्धनिरस्यमानस्य लक्षणार्थत्वम्?

लक्षणं सर्पवद्रज्ज्वाः प्रतीचः स्यादहं तथा।
तद्बाधेनैव वाक्यार्थं वेत्ति सोऽपि तदाश्रयात् ॥ २७ ॥

शङ्का—अहङ्कारद्वारा शुद्ध आत्मा कैसे लक्षित हो सकता है? क्योंकि जहाँपर लक्षणा होती है, जैसे—'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलोंमें। वहाँ गङ्गाशब्दसे तीर लक्षित होता है। परन्तु गङ्गा शब्दका वाच्यार्थ जो जलप्रवाह है वह अविवक्षित नहीं होता। कारण-गङ्गातीरका बोधन करनेके निमित्त उसकी आवश्यकता होती है। ऐसे ही यहाँपर वाच्यार्थका लक्ष्यार्थसे विरोध भी नहीं है, एवं वाच्यार्थ जो जलप्रवाह है उसका लक्ष्यार्थ तीरके साथ सम्बन्ध भी है। प्रकृत स्थलमें तो सर्वथा उलटा है। जैसे अहङ्कार अपुरुषार्थ होनेसे अविवक्षित है और मिथ्या होनेसे शुद्ध आत्मासे अत्यन्त विरोध भी है। ऐसे शुद्ध लक्ष्य पदार्थके ज्ञानसे बाधित भी होता है तब यह लक्षक कैसे हो सकता है?

---

1 भेदसंसर्गरहिताबाक्यार्थ, भी पाठ है।

समाधान—जो यह सर्प है, वह रज्जु है। ऐसे प्रयोगमें सर्पस्वरूप असत्य होनेसे विवक्षित नहीं है। अतएव रज्जुसे उस सर्पका वास्तव सम्बन्ध भी नहीं है। और रज्जुके ज्ञानसे वह सर्प बाधित भी होता है। ऐसा होनेपर भी वह मिथ्यासर्प स्वाधिष्ठान-भूत रज्जुका लक्षक जैसे होता है? क्योंकि प्रतिभासमान सर्पाकारका अनुवाद किये बिना अप्रकाशमान रज्जुके आकारका ज्ञान शब्दसे नहीं हो सकता। वैसे ही अहङ्कार अविवक्षित, सम्बन्धरहित और बाधित है। तथापि शुद्ध आत्मामें अध्यस्त होकर उसका लक्षक हो सकेगा। भ्रान्तिसे अहं इस रूपसे गृहीत आत्माका उसके अनुवादके बिना तात्त्विकरूपसे वाक्य द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतएव जैसे रज्जुके ज्ञानसे सर्पको बाधित कर ही 'जो सर्प है वह रज्जु है, इस वाक्यसे अर्थ बोध होता है। वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यसे अर्थज्ञान' अहङ्कारका बाध होनेपर ही होगा। इसलिए 'ब्रह्म' पद और 'अहम्' पद, इन दोनोंमें भिन्नार्थत्वकी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ २७ ॥

इयश्चा[1]ऽवाक्यार्थप्रतिपत्तिरन्वयव्यतिरेकाभिज्ञस्यैव। यस्मात्—

यावद्यावन्निरस्याऽयं देहादीन्प्रत्यगञ्चति।
तावत्तावत्तदर्थोऽपि त्वमर्थं प्रविविक्षति ॥ २८ ॥

यह पूर्वोक्त अखण्डार्थका ज्ञान अन्वय और व्यतिरेकको जाननेवालेको ही हो सकता है। क्योंकि—

ज्यों ज्यों यह मुमुक्षु देहसे लेकर मायापर्यन्त अनात्म पदार्थोंको, जो कि आत्म-बुद्धिसे गृहीत हैं, निरास करता है, त्यों त्यों तत्पदार्थ भी त्वंपदार्थके साथ अभेद ज्ञान होनेसे एक रूप अखण्ड प्रकाशित होता है। क्योंकि विरोधी जो परिच्छेदाभिमान है वह निवृत्त हो जाता है ॥ २८ ॥

कस्मात्पुनः कारणाद्देहाद्यनात्मत्वप्रतिपत्तावेवात्मा तदर्थमा-त्मत्वेनाभिलिङ्गते, न विपर्यय इति? उच्यते—प्रत्यगात्माऽनवबोध-स्याऽनात्मस्वाभाव्यात्तदभिनिर्वृत्तश्चाऽयं बुद्ध्यादिदेहान्तस्तस्मिन्नात्म-त्वमविद्याकृतमेवात्मत्वमिवाऽनात्मत्वपि साविद्यस्यैव। यतो निरविद्यो विद्वानवाक्यार्थरूप एव केवलोऽवशिष्यते। तस्मादुच्यते—

देहादिव्यवधानत्वात्तदर्थं स्वयमप्यतः।
पारोक्ष्येणैव जानाति साक्षात्त्वं तदनात्मनः ॥ २९ ॥

शङ्का—देहादिमें अनात्मत्वका निश्चय होनेपर ही प्रत्यगात्मा तत्पदार्थमें अभिन्न-रूपसे मिलता है। निश्चय न हुआ तो नहीं। इसका क्या कारण है?

---

१ इयं च वाक्यार्थप्रतिपत्तिः, ऐसा भी पाठ भेद है।

समाधान--प्रत्यगात्माका अनवबोध (अज्ञान) जड़ स्वरूप, दृश्य एवं ज्ञानसे निवृत्त होने वाला है, इसलिए उसकी अनात्मरूपता स्वभाविक ही है। बुद्धिसे लेकर देहपर्यन्त पदार्थ उसी अज्ञानके कार्य हैं; अतएव उनका भी अनात्मत्व सिद्ध ही है। क्योंकि वे शुद्ध ब्रह्मके कार्य नहीं हैं। तथा आत्मा चिद्रूप, कूटस्थ, स्वयम्प्रकाशरूप होनेसे ब्रह्मरूप है। उसमें किसीकी अपेक्षा नहीं है। परन्तु जब देहादिसे आत्मबुद्धि निवृत्त हो, तभी वह स्वाभाविक भी ब्रह्मरूपता आविर्भूत होती है। ऐसा होनेपर भी यह शङ्का होती है कि अनात्म पदार्थोंकी स्वरूपसे स्थिति है इसलिए आत्यन्तिक अनर्थ निवृत्ति कैसे होगी? इस शङ्काको दूर करनेके लिए यह कहा जाता है कि—देहादिपदार्थोंकी आत्मरूपता जैसे अज्ञान निमित्तक है, वैसे उनका अनात्मपन भी अज्ञान निमित्तक ही है। इसलिए अविद्या नष्ट हो जाय तो फिर अनर्थकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि—अविद्यासे रहित आत्मज्ञानवान् पुरुष अखण्ड ब्रह्मरूप होकर केवल एक ही अवशिष्ट रहता है। इसलिए यह कहा जाता है कि—

देहादिरूप व्यवधान होनेके कारण स्वस्वरूप होनेपर भी तत्पदार्थ ब्रह्मको परोक्ष-रूपसेही जानता है, अर्थात् अपनेसे भिन्नरूपसे जानता है। जब देहादिकी अनात्माका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकसे हो जाता है तब तत्पदार्थ अपरोक्ष हो जाता है॥ २९॥

यथोक्तार्थप्रतिपत्तिसौकर्याय दृष्टान्तोपादानम्—

प्रत्यगुद्भूतपित्तस्य यथा बाह्यार्थपीतता।
चैतन्यं प्रत्यगात्मीयं बहिर्वद्दृश्यते तथा॥ ३०॥

पूर्वोक्तअर्थको सुगमताके साथ जाननेके लिए दृष्टान्तका उपादान करते हैं—

जैसे पित्त अपने शरीरके भीतर ही एक देशमें अर्थात् चक्षुमें उत्पन्न होता है। परन्तु बाह्य शङ्खादि पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होनेसे शङ्खादिमें ही पीतिमाँ हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसे ही प्रत्यगात्मा ब्रह्मरूप है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। परन्तु अनात्म-भूत अव्याकृतादि पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होनेसे वह ब्रह्म जीवको परोक्ष-जैसा प्रतीत होता है॥ ३०॥

यस्मादेवमतो विशु[1]द्धमवसीयताम्—

पदान्युद्धृत्य वाक्येभ्यो ह्यन्वयव्यतिरेकतः।
[2]पदर्थाल्लोकतो बुद्ध्वा वेत्ति वाक्यार्थमञ्जसा॥ ४१॥

तत्वमस्यादि वाक्यका अखण्डार्थमें पर्यवसान होनेके कारण किसी प्रकारका विरोध नहीं है। अतएव निःशङ्क होकर पूर्वोक्त अर्थका निश्चय कर लेना चाहिए—

---

१ विस्रब्धमवसीयताम्। ऐसा भी पाठ है।

२ पदार्थं लोकतो, भी पाठ है।

भिन्न भिन्न प्रयोगोंमें पदोंका आवाप और उद्वाप (अर्थात् किसी नये पदको उस वाक्यमें जोड़ना, और जो है उसको उसमेंसे निकालना) तथा अन्वय-व्यतिरेकसे वृद्ध व्यवहार द्वारा पदार्थोंको समझकर वाक्यके तात्पर्यके अनुसार वाक्यार्थका ज्ञान होता है ॥ ३१ ॥

कुतः पुनः सामान्यमात्रवृत्तेः पदस्य वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति ? बाढम् ।

सामान्यं हि पदं ब्रूते विशेषो वाक्यकर्तृकः ।
श्रुत्यादिप्रतिबद्धं सद्विशेषार्थं भवेत्पदम् ॥ ३२ ॥

शङ्का—सामान्य अर्थात् जातिमात्रका बोधक जो शब्द है, उससे विशेषरूप वाक्यार्थकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? क्योंकि शब्दोंकी शक्ति तो दूसरेमें ही और बोध दूसरेका हो, ऐसा कहीं देखनेमें नहीं आया ?

उत्तर—हाँ, शब्द अर्थात् पदमात्र यद्यपि सामान्यका ही वाचक है, तो भी विशेषकी प्रतीति वाक्यके तात्पर्यबलसे होती है । अतएव श्रुत्यादिसे सङ्कुचित होकर पद भी विशेषार्थक होता है ॥ ३२ ॥

अन्वयव्यतिरेकपुरस्सरं वाक्यमेव सामानाधिकरण्यादिनाऽविद्या[1]पटलप्रध्वंसद्वारेण मुमुक्षुं स्वाराज्येऽभिषेचयति न त्वन्वयव्यतिरेकमात्रसाध्योऽयमर्थ इत्याह—

बुद्ध्यादीनामनात्मत्वं लिङ्गादपि च सिद्ध्यति ।
निवृत्तिस्तावता नेती[2]त्यतो वाक्यं समाश्रयेत् ॥ ३३ ॥

अन्वय व्यतिरेक पूर्वक वाक्य ही सामानाधिकरण्यादि द्वारा अविद्याके आवरणको नष्टकर मुमुक्षुको स्वाराज्यपदमें अभिषिक्त करता है, केवल अन्वयव्यतिरेक मात्रसे यह साध्य नहीं है, यह बात कहते हैं—

बुद्ध्यादिका अनात्मपन युक्तिसे भी सिद्ध होता है । परन्तु उनके कारणीभूत अज्ञानकी निवृत्ति पुरस्सर इनकी निवृत्ति युक्तिमात्रसे सिद्ध नहीं होती । क्योंकि युक्ति स्वयं प्रमाण नहीं है । अतएव युक्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती । इसलिए प्रमाणभूत वाक्यका ही आलम्बन करना चाहिए ॥ ३३ ॥

न केवलमनुमानमात्रशरणोऽभिलषितमर्थं न प्राप्नोतीत्यनर्थं च प्राप्नोतीत्याह—

---

१ अविद्यामल, भी पाठ है ।

२ नैतीत्यतः भी पाठ है ।

अनादृत्य श्रुतिं मोहादतो बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥ ३४ ॥

जो अनुमानको ही शरण माननेवाला है, वह केवल अपनी इष्ट सिद्धिसे ही वञ्चित रहता है, यही नहीं । किन्तु—अनर्थको भी प्राप्त होता है । इसी बातको कहते हैं—

अनुमानमात्रको ही प्रमाण माननेसे तमोगुण-प्रधान बौद्ध लोग मोहसे श्रुतिका अनादर करके निरात्मवादी बने और शून्य हो गये ॥ ३४ ॥

न चाऽनादरे कारणमस्ति यस्मात्सर्वत्रैवाऽनादरनिमित्तं प्रमाणस्य प्रमाणान्तर-प्रतिपन्नप्रतिपादनं वा विपरीतप्रतिपादनं वासंशयित-प्रतिपादनं वा न वा प्रतिपादनमिति, न चैतेषामन्य[1]तमदपि कारण-मस्ति । यत आह—

मानान्तरानवष्टब्धं निर्दुःख्यात्मानमञ्जसा ।
बोधयन्ती श्रुतिः केन न प्रमाणमितीर्यते ॥ ३५ ॥

श्रुतिके अनादरमें कोई कारण भी नहीं है । क्योंकि सर्वत्र प्रमाणके अनादरमें यही कारण होता है कि जो बात प्रमाणान्तरसे ज्ञात हो उसको प्रकाशित करना, अथवा प्रमाणान्तरसे जो बात विरुद्ध हो उसको कहना, या जिस बातका प्रतिपादन करना है, उसको सन्दिग्धरूपसे प्रतिपादन करना, किंवा प्रतिपादन न करना, इन चार कारणोंमेंसे प्रकृत विषयमें कोई भी नहीं है । इसलिए कहते हैं—

आत्मा प्रमाणान्तरसे ज्ञात नहीं है, अथवा प्रमाणान्तरसे विरुद्ध भी नहीं है । अथवा उसका श्रुतिसे सन्दिग्ध ज्ञान होता है, यह भी नहीं और श्रुतिसे उसका बोध ही नहीं होता, यह बात भी नहीं है तब उसको दुःखरहित, नित्य आनन्द-रूपसे अनायास प्रतिपादन करनेवाली श्रुति प्रमाण नहीं है, ऐसी बात किसके मुखसे निकलेगी ? ॥ ३५ ॥

न च संशयितव्य[2]मवगमयति । यतः—

सर्वसंशयहेतौ हि निरस्ते कथमात्मनि ।
जायेत संशयो वाक्यादनुमानेन युष्मदि ॥ ३६ ॥

और वेदसे आत्माका बोध संशयात्मक भी नहीं होता । क्योंकि—समस्त संशयोंका कारण अहङ्कार प्रभृति अनात्मवर्ग अनुमानके द्वारा जब आत्मासे निरस्त हो गया है, तब वाक्यसे संशय कैसे हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

---

१ अन्यतरत्, भी पाठ है ।

२ संशयितं, ऐसा और 'अवगमं प्रति, ऐसा भी पाठ है ।

अपि च—

यत्र स्यात्संशयो नाऽसौ ज्ञेय आत्मेति पंडितैः ।

न यतः संशयप्राप्तिरात्मनोऽवगतित्वतः ॥ ३७ ॥

और भी इस बातको कहते हैं—

जहाँ पर संशय हो उसको पण्डितलोगोंने आत्मरूपसे नहीं समझना चाहिए। क्योंकि आत्मामें किसी प्रकार सामान्य-विशेष भाव नहीं है। स्वयंप्रकाश होनेसे सर्वदा वह अपरोक्ष ही है। अत एव उसमें संशय होनेकी गुञ्जाइश ही नहीं है, आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से समस्त संशयको नष्ट करनेवाला है। आरोपित दृश्यविशिष्टरूपसे संशयका विषय हो तो भी विशिष्टरूपसे वह आत्मा ही नहीं है और केवल जो आत्मा है, उसमें कदापि संशय नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

अनवबोधकत्वं तु दूरोत्सारितमेव । यत आह—

बोध्ये[1]ऽप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते ।

तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्ठं नरसमाकृतिम् ॥ ३८ ॥

श्रुति आत्माका प्रतिपादन करती ही नहीं, यह बात शङ्कास्पद ही नहीं है। क्योंकि—जो वस्तु जानने योग्य है उस वस्तुका भी अनुभव जिसको नहीं होता, उस मनुष्याकार मिट्टीके ढेलेको, निरे जड़को, शास्त्र किस प्रकारसे बोध करा सकेगा ? ॥३८॥

अन्वयव्यतिरेकपुरस्स[2]रं वाक्यमेवाऽवाक्यार्थरूपमात्मानं प्रतिपादयतीत्यस्य पक्षस्य द्रढिम्ने श्रुत्युदाहरणमुपन्यस्यति—

जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेत्त्यविक्रियः ।

स आत्मा तत्परं ज्योतिः शिरसीदं वचः श्रुतेः ॥ ३९ ॥

अन्वय व्यतिरेकसे वाक्य ही अखण्ड आत्माका प्रतिपादन करता है, इस पक्षकी दृढ़ताके लिए श्रुतिका उदाहरण देते हैं—

'मैं इस गन्धको ग्रहण करूँ' ऐसा जो किसी प्रकारके विकारको प्राप्त न होकर जानता है, वही स्वप्रकाश आत्मा है, ऐसा उपनिषद् का कथन है ॥ ३९ ॥

यथा 'तत्सत्य स आत्मा 'तत्त्वमसि' इत्यस्य शेषत्वेनाऽन्वयव्यतिरेकश्रुतिर्यथा 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्याद्या, 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणि' इत्यन्ता । तथा 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यस्य शेषः ।

अहमः प्रत्यगात्माऽर्थो निरस्ताऽशेषयुष्मदः ।

बम्भणीति श्रुतिर्न्याय्या योऽयमित्यादिनाऽसकृत् ॥४०॥

---

१ बोधेऽपि, ऐसा भी पाठ है । २ अन्वयव्यतिरेकसचिवं, भी पाठ है ।

जैसे छान्दोग्य उपनिषद्में 'वही सत्य है' 'वही आत्मा है' 'वही तू है' इस वाक्य की अङ्गभूत अन्वय-व्यतिरेकबोधक यह श्रुति है। जैसे—'जो यह नेत्रोंमें पुरुष देख पड़ता है' यहाँसे लेकर 'अनन्तर जो ऐसा जानता है, मैं इसको प्राप्त करूं' यहाँतक। वैसे ही बृहदारण्यक उपनिषद्में भी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यकी शेषभूत 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुति 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस महावाक्यके अहं पदका अर्थ सम्पूर्ण अनात्मासे रहित, अहङ्कारका साक्षी, लक्ष्यभूत प्रत्यगात्मा है, ऐसा युक्तिपूर्वक बार-बार प्रतिपादन करती है ॥ ४० ॥

कथं पुनरयमर्थोऽवसीयते 'अहं' व्याजेनात्रात्मार्थो बुबोधयिषित इति। यतः—

एष आत्मा स्वयञ्ज्योती रविसोमाग्निवाक्षु सः।
इतेष्वस्तं दृगेवास्ते भासयँश्चित्तचेष्टितम् ॥ ४१ ॥

शङ्का—किस युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि 'अहम्' शब्द वाच्यार्थका परित्याग करके लक्षणासे कूटस्थ आत्माका बोधन करता है, ऐसा श्रुतिको अभिमत है?

समाधान—चूँकि सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाणी इत्यादि प्रकाशक पदार्थोंके अस्त हो जानेपर भी स्वप्नावस्थामें सब प्रकारके चित्त-व्यापारको जो प्रकाशित करता है, वह स्वयं-प्रकाश आत्मा है, ऐसा श्रुतिने प्रतिपादन किया है ॥ ४१ ॥

निर्णेनेक्ति च पृष्टो मुनिः—

आत्मनैवेत्युपश्रुत्य कोऽयमात्मेत्युदीरिते।
बुद्धेः परं स्वतो मुक्तमात्मानं मुनिरभ्यधात् ॥ ४२ ॥

आत्मप्रकाशसे ही समस्त व्यवहार होता है, इसको सुनकर शिष्यने जब प्रश्न किया कि आत्मा शब्द तो कोश-पञ्चकमें भी प्रयुक्त होनेसे साधारण है; अतएव आत्म-शब्दका मुख्य अर्थ क्या है? इसपर श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने पुनः पुनः निर्णय करके बतलाया कि बुद्धिसे परे नित्यमुक्त जो वस्तु है, वही आत्मशब्दका अर्थ है ॥ ४२ ॥

यस्माच्चात्माऽत्राऽहंव्याजेन प्रत्यङ्मात्रो जिग्राहयिषितस्तस्मादहंवृत्तिः स्वरूपस्य विलयेनैव [1]वाक्यार्थाऽवगमाय कारणत्वं प्रतिपद्यत इतीममर्थमाह—

अहंवृत्त्यैव तद्ब्रह्म यस्मादेषोऽवगच्छति।
[2]तत्स्वरूपलयेनातः कारणं स्यादहंकृतिः ॥ ४३ ॥

---

१ विलयेनैवावाक्यार्थम्, ऐसा पाठ भी है।

२ मत्स्वरूप, ऐसा भी पाठ है।

चूँकि यहाँपर अहङ्कारके व्याजसे शुद्ध प्रत्यगात्माका ग्रहण कराना इष्ट है। इस कारण अहंवृत्ति भी अपने स्वरूपके विलय द्वारा ही वाक्यार्थके ज्ञानमें कारण होती है, इस बातको कहते हैं—क्योंकि, यह मुमुक्षु 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अहङ्कारसे ही ब्रह्मको जानता है। इस कारण अहङ्कार-स्वरूपके बाध द्वारा ही अहङ्कार वाक्यार्थ-ज्ञानमें कारण है॥ ४३॥

अत एव च यः प्रतिज्ञातोऽर्थो 'नाऽहंग्राह्ये न तद्धीने' इत्यादिः स युक्तिभिरुपपादित इति कृत्वोपसंह्रियते—

इसलिए जो प्रतिज्ञा की गयी थी कि "अहङ्कारसे ग्राह्य जो आत्मा है, अथवा उससे रहित जो विशुद्ध आत्मा है, इन दोनोंमें विरोध नहीं है" इत्यादि—उसका युक्तियोंसे उपादन किया गया, इसलिए अब उपसंहार करते हैं—

गृहीताऽहंपदार्थश्चेत्कस्माज्ज्ञो न प्रपद्यते।
प्रत्यक्षादिविरोधाच्चेत्प्रतीच्युक्तिर्न युष्मदि॥ ४४॥

यदि 'अहम्' पदार्थका ज्ञान हुआ है तो फिर क्यों विद्वान् पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यके अर्थको नहीं ग्रहण करता? यदि कहो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ विरोध होनेसे नहीं जानता, सो यह ठीक नहीं। क्योंकि 'तत्त्वमस्यादि' वाक्योंसे जो अभेदका कथन किया है, वह उपाधि-विशिष्टोंका नहीं किया है, किन्तु शुद्ध आत्माका किया है। प्रत्यक्षादि तो उपाधि-विशिष्टका बोधन करनेवाले हैं, न कि शुद्ध आत्माका। इसलिए दोनोंका विषय भिन्न होनेसे कोई विरोध नहीं है॥ ४४॥

पूर्वस्यैव श्लोकार्थस्य[1] विस्पष्टतामाह—

पराञ्च्येव तु सर्वाणि प्रत्यक्षादीनि नात्मनि।
प्रतीच्येव प्रवृत्तं तत्सदसीति वचोऽञ्जसा॥ ४५॥

पूर्वोक्त श्लोकके अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—

प्रत्यक्षादि प्रमाण पराक् अर्थात् जड़ वस्तुको ही विषय करनेवाले हैं, प्रत्यक्आत्माको विषय नहीं कर सकते। इसी कारणसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य अनायाससे शुद्ध आत्माका अभेद प्रतिपादन कर सकते हैं॥ ४५॥

तस्मात्प्रमातृप्रमाणप्रमेयेभ्यो हीयमानोपादीयमानेभ्योऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां[2] मुञ्जषीकावदशेषबुद्धिविक्रियासाक्षितयाऽऽत्मानं निष्कृष्य तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्योऽपूर्वादिलक्षणमात्मानं विजानीयात्। तदेतदाह—

---

१ पूर्वस्यैव पदार्थस्य, ऐसा और 'विस्पष्टार्थमाह, ऐसा भी पाठ है।

२ मुञ्जेषीकादिवत्, ऐसा पाठ भी है।

चूँकि शोधित तत्-त्वम् पदार्थके ज्ञानमें प्रमाणान्तरसे विरोध नहीं है, इसलिए हीयमान अर्थात् त्यागने योग्य और उपादीयमान अर्थात् ग्रहण करने योग्य प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय अन्वयव्यतिरेक द्वारा, जिस प्रकार मुञ्ज (मूँज) नामक तृणसे उसके भीतर रहनेवाले सूक्ष्म तृणको बड़ी सावधानीसे पृथक् करते हैं, उसी प्रकार आत्माको सम्पूर्ण बुद्धि-विकारोंका यह साक्षी है, इस रूपसे पृथक् जानकर तत्त्वमस्यादि वाक्योंसे, अज्ञात सच्चिदानन्दरूप आत्माको जानना चाहिए। इसी बात को कहते हैं—

अहं दुःखी सुखी चेति येनाऽयं प्रत्ययोऽध्रुवः।
अवगत्यन्त आभाति स म आत्मेति वाक्यधीः ॥ ४६ ॥

'मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान अध्रुव अर्थात् क्षणिक हैं। इन सब वृत्तियों तथा इनकी प्रमितियोंका भी प्रकाश जिससे होता है, वही मेरा आत्मा है, ऐसी बुद्धि वाक्यके द्वारा होती है ॥ ४६ ॥

प्रमाणान्तराऽनवष्टब्धं निरस्ताऽशेषकार्यकारणात्मकद्वैतप्रपञ्चं सत्यज्ञानानन्दलक्षणमात्मानं तत्त्वमस्यहंब्रह्मास्मीत्यादिवाक्यं संशयित-मिथ्याज्ञानाऽज्ञानप्रध्वंसमुखेन साक्षादपरोक्षात्करतलन्यस्ताऽमलक-वत्प्रतिपादयत्येवेत्यसकृदभिहितम्।

तत्र केचिदाहुः—तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्यथावस्थित[1]वस्तुयाथा-त्म्यान्वाख्याननिष्ठैर्न यथोक्तोऽर्थः प्रतिपत्तुं शक्यतेऽभिधाश्रुतित्वात्ते-षाम्। न हि लोकेऽभिधाश्रुतेः प्रमाणान्तरनिरपेक्षाया नद्यास्तीरे फलानि सन्तीत्यादिकायाः प्रामाण्यमभ्युपगतम्। अतो नियोगमुखेनैवाऽभि-धाश्रुतेः प्रामाण्यं युक्तं प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्वान्नियोगस्य। अस्य परि-हारार्थमशेषप्रत्यक्षादिप्रमेयत्वनिराकरणद्वारेणाऽ[2]तीन्द्रियार्थविषयत्वाद-भिधाश्रुतेः प्रामाण्यं सुप्तपुरुषप्रबोधकवाक्यस्येव वक्तव्यमित्ययमारम्भः—

प्रमाणान्तरसे अज्ञात, कार्यकारणात्मक द्वैतप्रपञ्चसे रहित, अखण्ड, सत्य ज्ञान, आनन्द स्वरूप आत्माका—सन्देह, मिथ्याज्ञान, भ्रान्ति, तथा अज्ञानका नाश करके प्रत्यक्षरूपसे हस्तस्थित आमलक (आँवले) के सदृश—प्रत्यक्षात्मक ज्ञान तत्त्वमस्यादि वाक्यसे उत्पन्न होता है। इस बातका अनेक बार प्रतिपादन किया। इसपर कोई ऐसा कहते हैं कि "सिद्धार्थ वस्तुपर अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका यथार्थरूपसे बोध

---

१ याथात्म्यव्याख्यान, ऐसा भी पाठ है।

२ अनिन्द्रियार्थविषयत्वात्, ऐसा पाठ भी है।

करनेमें तत्पर जो तत्त्वमस्यादि वाक्य हैं, इनसे पूर्वोक्त अखण्ड आत्मस्वरूपका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहते हो, वह ठीक नहीं। क्योंकि ये सब वाक्य अभिधायक श्रुतिरूप हैं, विधायक श्रुतिरूप लिङ् आदि प्रत्ययोंसे युक्त नहीं हैं। लोकमें कहीं भी अभिधायक श्रुतिको, यदि मूलभूत प्रमाणान्तर न रहे, तो प्रमाण नहीं माना जा सकता। जैसे—नदीके तीरमें पाँच फल हैं, इस वाक्यको प्रमाण तभी माना जायगा, जब किसीने अन्य प्रमाणसे नदीके तीरमें पाँच फल हैं, इस बात को जानकर पीछेसे इस वाक्यका प्रयोग किया हो, नहीं तो नहीं। इसलिए अभिधायक श्रुतिका विधायक श्रुतिके साथ एकवाक्यतासे ही प्रामाण्य हो सकता है। क्योंकि विधिप्रत्ययके अर्थको प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं है। अतएव वेदान्तवाक्य भी जब विधिपरक होंगे, तभी प्रमाण हो सकते हैं, नहीं तो नहीं।" इस आक्षेपको हटानेके लिए यह कहा जाता है कि यह आत्मा वेदान्तसे इतर सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय ही नहीं होता। जब वह इतर प्रमाणोंका विषय नहीं होता, तब विधि-प्रत्यय रहित अभिधायक श्रुतिरूप वेदान्तवाक्यका अतीन्द्रिय वस्तुका बोधन करनेमें, सुप्त पुरुषको जाग्रत् करनेके लिए प्रयुक्त वाक्यकी भाँति, सामर्थ्य है और प्रामाण्य भी है, इस बातको कहनेके लिए अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ होता है—

नित्यावगतिरूपत्वादन्यमानानपेक्षणात्।
शब्दादिगुणहीनत्वात्संशयानवतारतः ॥ ४७ ॥
तृष्णानिष्ठीवनैर्नात्मा प्रत्यक्षाद्यैः प्रमीयते।
प्रत्यगात्मत्वहेतोश्च स्वार्थत्वादप्रमेयतः ॥ ४८ ॥

यह आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गृहीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि ग्राहककी प्रवृत्ति होनेके अनन्तर पुरुषको जब देखनेकी इच्छा होती है, तब प्रत्यक्षादिकी प्रवृत्ति होती है। अतएव वे तृष्णाके कार्य हैं, उनसे सर्वावभासक आत्मा कैसे प्रकाशित हो सकता है और जो ज्ञानरूप नहीं है उसी वस्तुको प्रकाशित होनेके लिए प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होती है। आत्मा तो कूटस्थ और प्रकाशरूप है, अतएव उसको प्रमाणान्तरकी अपेक्षा क्यों होगी? और प्रत्यगात्मरूप होनेके कारण किसीसे उसका व्यवधान भी नहीं है। स्वार्थ होनेके कारण वह अन्यसे उपभोग्य नहीं है और अविषय होनेसे प्रमेय होनेके योग्य भी नहीं है। और श्रोत्रादि-प्रवृत्तिके विषय जो शब्दादि गुण हैं, उनसे रहित होनेसे वह किसी प्रकार सन्देहका भी विषय नहीं होता, इसी कारण वह अनुमान आदि प्रमाणोंका विषय भी नहीं होता ॥ ४७,४८ ॥

श्रुतिरपीममर्थं निर्वदति—
दिदृक्षितपरिच्छिन्नपराग्रूपादिसंश्रयात्।
विपरीतमतो दृष्ट्या स्वतो बुद्धं न पश्यति ॥ ४९ ॥

न्यायसिद्धमतो वक्ति दृष्टेर्द्रष्टारमात्मनः।
न पश्येत्प्रत्यगात्मानं प्रमाणं श्रुतिरादरात् ॥ ५० ॥

श्रुति भी इसी अर्थका प्रतिपादन करती है—

प्रत्यक्षादि दृष्टि दृश्य, परिच्छिन्न, जड़स्वरूप रूपादिको विषय करनेवाली है। अत-एव अदृश्य, अपरिच्छिन्न, चेतन, स्वयम्प्रकाश आत्माको वह कैसे ग्रहण कर सकती है ॥ ४६ ॥

इसीलिए युक्तिसिद्ध इस अर्थको प्रमाणभूत श्रुति बड़े आदरके साथ कहती है कि जो अनित्यभूत दृश्य-दृष्टिका भी प्रकाशक, साक्षी तथा आत्माका भी आत्मा है उसको अनित्य दृष्टिसे जाननेका प्रयत्न न करो। ॥ ५० ॥

अनुमानाऽविषयत्वेऽन्यदपि कारणमुच्यते—

प्रत्यक्षस्य पराक्त्वान्न सम्बन्धग्रहणं यतः।
आत्मनोऽतोऽनुमित्यास्यानुभवो न कथञ्चन ॥ ५१ ॥

आत्मा अनुमानका विषय नहीं होता, इस विषयमें और भी कारण बतलाते हैं—

क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण जड़ वस्तुको विषय करता है, इस कारण वह इससे विपरीत स्वयं-प्रकाश आत्माको ग्रहण नहीं कर सकता। अनुमान करनेके पूर्व, अनुमानसे जिसकी सिद्धि करनी है, उसके साथ किसी वस्तुका व्याप्तिज्ञान आवश्यक है, वह प्रत्यक्षसे होता है। आत्मा जब प्रत्यक्षका विषय नहीं है, तब व्याप्तिज्ञान किस प्रकारसे होगा? व्याप्ति-ज्ञान न होनेसे अनुमान भी नहीं बन सकता। इसलिए अनुमानसे आत्माका अनुभव किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकता? ॥ ५१ ॥

एवमयं प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारः सर्व एव पराचीनविषय एव न प्रतीचीनमात्मानमवगाहयितुमलम्। एवं च सत्यनेनैव यथोक्तोऽर्थोऽनुमातुं[1] शक्यत इत्याह—

प्रमाणव्यवहारोऽयं सर्व एव पराग्यतः।
सुविचार्याऽप्यतोऽनेन युष्मद्येव दिदृक्षते ॥ ५२ ॥

इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इत्यादि सभी व्यवहार जड़ वस्तुको ही विषय करनेवाले हैं, प्रत्यगात्माको विषय करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसलिए इसीसे इस बातका (उक्तविषयका) अनुमान किया जा सकता है, यह कहते हैं—

क्योंकि प्रमाण आदि समस्त व्यवहार जड़ वस्तुको ही विषय करता है, इस कारण

१ अवसातुं शक्यते, और 'अवसितुं' शक्यते, पाठ भी मिलता है।

अच्छी तरहसे विचार करके भी यही निश्चित होता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनात्माका ही ग्रहण होता है ॥ ५२ ॥

यस्माल्लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणाऽनधिगम्योऽहंब्रह्मास्मीति वाक्यार्थस्तस्मात्—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरस्याऽऽप्राणतो यतेः ।
वीक्षापन्नस्य कोऽस्मीति [1]तदसीति श्रुतिर्जगौ ॥ ५३ ॥

चूँकि लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि महावाक्य द्वारा प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्मज्ञान नहीं होता। अतएव—अन्वय-व्यतिरेकसे देहसे लेकर प्राणपर्यन्त सकल अनात्माओंका निरास करके 'मैं कौन हूँ' ऐसी जिज्ञासा जिस पुरुषको हुई है, उस पुरुषको श्रुतिने उस शुद्ध स्वरूपके प्रतिपादन करनेके लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यका उपदेश दिया है ॥ ५३ ॥

सोऽयमन्वयव्यतिरेकन्याय एतावानेव, यदवसानो वाक्यार्थस्तदभिज्ञस्य 'अहं ब्रह्माऽस्मीति' आविर्भवति। द्रष्टृदृश्यविभागेनागमापायिसाक्षिविभागेन च श्रुत्यभ्युपगमतः सङ्क्षिप्योच्यते—

दृश्यत्वाद्घटवद्देहो देहवच्चेन्द्रियाण्यपि ।
मनश्चेन्द्रियवज्ज्ञेयं मनोवन्निश्चयादिमत् ॥ ५४ ॥

पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेककी सीमा यही है कि जब 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यका अर्थ असम्भावना और विपरीतभावनाके निराससे प्रत्यक्षरूपसे आविर्भूत हो। इसी अन्वय व्यतिरेक न्यायको श्रुतिके अनुसार द्रष्टा, दृश्य और उत्पत्ति विनाशवान् वस्तु एवं उसका साक्षी, इस विभागसे संक्षेपसे वर्णन करते हैं—

देह दृश्य होनेके कारण घटादिके समान अनात्मा है। देहकी भाँति इन्द्रियें और इन्द्रियोंके तुल्य मनको भी समझना चाहिए और मनके तुल्य निश्चयादि वृत्तिवाला अन्तःकरण भी अनात्मा है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ५४ ॥

तथा सकलकार्यकारणागमापायि[2]विभागसाक्षित्वेनाऽपि—

प्रागसद्याति पश्चात्सत् सच्च यायादसत्तथा ।
अनात्माभिजनं[3]तत्स्याद्विपरीतः स्वयं दृशिः ॥ ५५ ॥

---

१ सदसीति, ऐसा पाठ भी है।

२ आगमापाय०, ऐसा भी पाठ है।

३ तस्माद्विपरीतस्त्वयं दृशिः, ऐसा पाठ भी है।

ऐसे ही समस्त कार्य, कारण तथा उत्पत्ति-विनाशवान् कल्पित प्रपञ्च का साक्षिरूप आत्मा है—

जो उत्पत्तिके पहले नहीं था, असद्रूप था, वही बादमें सद्रूप होता है। ऐसे ही जो वर्तमान समयमें सत् है, वही नाशके अनन्तर असत् हो जाता है। ऐसी जो जो वस्तु है वह सब अनात्मा ही है। आत्मा तो स्वप्रकाश है। अतएव अनात्माओंसे विपरीत, कूटस्थ, नित्य है ॥ ५५ ॥

तत्र घटादीनां दृश्यानामनात्मत्वं द्रष्ट्रात्मपूर्वकं प्रत्यक्षेणैव[1] प्रमाणेनोपलभ्यानात्मनश्चाऽसाधारणान्धर्मानवधार्य तैर्दृश्यत्वाऽऽगमापायादिभिर्धर्मैः शरीरेन्द्रियमनोनिश्चयादिवृत्तीरनात्मतया व्युदस्याऽहंवृत्तिमतोऽपि दृश्यत्वाविशेषाद् द्रष्टृपूर्वकत्वमवसीयते। तदेतदाह—

घटादि दृश्य पदार्थोंके अनात्मपनको तथा इनका द्रष्टा आत्मा इनसे पृथक् है, इस बातको प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही देखकर अनात्माके असाधारण धर्मोंको निश्चय करके उन दृश्यत्व आगमापायित्व आदि धर्मोंसे शरीर, इन्द्रिय, मन और निश्चयादिवृत्तियोंको आत्मासे पृथक् समझकर, अहङ्कारवृत्तिमान् अहङ्कारके भी दृश्य होनेके कारण इसका द्रष्टा इससे अतिरिक्त कोई अन्य है, ऐसा अनुमानसे सिद्ध कर सकते हैं। वही कहते हैं—

घटादयो यथा लिङ्गं स्युः परम्परयाऽहमः।
दृश्यत्वादहमप्येवं लिङ्गं स्याद् द्रष्टुरात्मनः ॥ ५६ ॥

जैसे घटादि विषय हैं, इसलिए वे देहादि-विशिष्ट द्रष्टाके ज्ञापक होते हैं। तथा ऐसे ही देह भी इन्द्रिय-विशिष्ट द्रष्टाका, इन्द्रियाँ भी मनोविशिष्ट द्रष्टाका, मन भी बुद्धिविशिष्ट द्रष्टाका और बुद्धि भी अहङ्कारविशिष्ट द्रष्टाका, जैसे ज्ञापक होते हैं। ऐसे ही अहङ्कार भी दृश्य होनेके कारण स्वव्यतिरिक्त द्रष्टाका ज्ञापक है ॥ ५६ ॥

ननु द्रष्टृदर्शनदृश्यानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेष्वागमापायदर्शनाद्यत्साक्षिकौ तेषामागमापायौ स आगमापायविभागरहित[2] आत्मा। यथा यन्निबन्धनौ जगतः प्रकाशाऽप्रकाशौ स प्रकाशाऽप्रकाशविभागरहितः सूर्य इति। यदा चैवं तदा वाक्यावगम्यस्यार्थस्याऽनुदितानस्तमितविज्ञानमात्रस्वभावस्याऽनुमानेनैव प्रतिपन्नत्वात्पुनरपि वाक्यस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गः। नैष दोषः। लिङ्गव्यवधानेन तत्प्रतिपत्तेः। ननु

---

१ प्रत्यक्त्वेनैव, ऐसा भी पाठ मिलता है।

२ आगमापायरहितः, भी पाठ है।

साक्षादपरोक्षादात्मस्वभावेनानात्मनो हानोपादानयोः सम्बन्धग्रहणात्कमतिशयं वाक्यं कुर्यात्। मैवं वोचः—लिङ्गाधीनत्वात्तत्प्रतिपत्तेः। न हि लिङ्गव्यवधानेनात्मप्रतिपत्तिः साक्षात्प्रतिपत्तिर्भवति 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते' इति श्रुतेः। अत आह—

शङ्का—द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनोंका जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओंमें उत्पत्ति और विनाश दीख पड़ता है। इनका यह उत्पत्ति और विनाश जिसको साक्षी मानकर होता है, वह आत्मा उत्पत्ति नाशसे रहित है। जैसे जगत्का प्रकाश और अप्रकाश जिसके द्वारा होता है वह सूर्य प्रकाश और अप्रकाश इन अवस्थाओं से रहित, सर्वदा एकरूप है। जब ऐसी बात सिद्ध है, तब वेदान्त वाक्यसे जिस उत्पत्ति विनाश रहित ज्ञानमात्ररूप आत्माका रूप सम्पादन करना है, उसका बोध तो अनुमानसे ही सिद्ध हो गया। फिर वेदान्तवाक्यकी आवश्यकता न होनेसे वे अप्रमाण हो जायँगे ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अनुमानसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्षरूपसे वस्तुका बोधक है, अपरोक्षरूपसे नहीं। अतएव प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण होनेके लिए वाक्यकी अपेक्षा है।

शङ्का—द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इन तीनोंकी उत्पत्ति और विनाशका साक्षात् प्रत्यक्षरूप साक्षीके साथ साक्ष्य-साक्षिभावरूप सम्बन्ध गृहीत है। अतएव ये साक्ष्य हैं तो इनका कोई साक्षी भी होना चाहिए। इस प्रकार अनुमानसे भी साक्षीका प्रत्यक्षरूपसे भी ग्रहण हो सकता है, फिर प्रत्यक्ष ज्ञानके लिए वाक्य की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ऐसा मत कहिए। क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें रहनेवाला जो साधारण धर्म है, उसीको अनुमानसे सिद्धि होती है, ऐसा मानना चाहिए। नहीं तो अनुमानका उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि अनुमानसे आत्माकी जो प्रतीति होगी वह सामान्यरूपसे ही होगी, विशेषरूपसे नहीं। अतएव प्रत्यक्षात्मक होनेके लिए वेदान्तवाक्यकी अपेक्षा है। लिङ्गाधीन होनेवाली प्रतीति प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं हो सकती; इसलिए श्रुति कहती है कि "यह साधक मुमुक्षु जिस निर्विशेष आत्माको निरन्तर तन्निष्ठ होकर भजता है, उसको यह आत्मा प्राप्त हो सकता है" इसलिए कहते हैं—

लिङ्गमस्तित्वनिष्ठत्वान्न स्याद्वाक्यार्थबोधकम्।
सदसद्व्युत्थितात्माऽयमतो वाक्यात्प्रतीयते ॥ ५७ ॥

अनुमानसे इतनामात्र सिद्ध हो सकता है कि कोई एक आत्मा पदार्थ है। किन्तु वह सत् है, अथवा असत् है, इत्यादि विकल्पोंसे रहित शुद्ध, बुद्ध आत्मा है; इस

प्रकार विशेषरूपसे बोध अनुमानसे नहीं होता। अतएव वेदान्तवाक्यसे ही उसका पूर्ण बोध होता है ॥ ५७ ॥

ननु यदि व्यावृत्तसदसद्विकल्पजालं वस्त्वभीष्टं वाक्याद् भवतस्तथापि तूत्सार्यते वाक्यविषया तृष्णा। यस्मादन्तरेणापि वाक्यश्रवणं निरस्ताशेषविकल्पमागोपालाविपालपण्डितं सुषुप्ते वस्तु सिद्धमतो नार्थो वाक्यश्रवणेन ? नैतदेवम्। किं कारणम् ? सर्वानर्थबीजस्यात्मानवबोधस्य सुषुप्ते सम्भवात्। यदि हि सुषुप्तेऽज्ञानं नाऽभविष्यदन्तरेणापि वेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनान्यहं ब्रह्माऽस्मीत्यध्यवसायात्सर्वप्राणभृत्तामपि स्वरसत एव सुषुप्तप्रतिपत्तेः सकलसंसारोच्छित्तिप्रसङ्गः न च कैवल्यात्पुनरुत्थानं न्याय्यमनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न चाऽन्य एव सुषुप्तोऽन्य[1] एवोत्थित इति शक्यं वक्तुं नाद्राक्षमहं सुषुप्तेऽन्यत्किञ्चिदपीत्युत्थितस्य प्रत्यभिज्ञादर्शनात्। तस्मादवश्यं सुषुप्तेऽज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्। ननु यदि तत्राऽज्ञानमभविष्यद्रागद्वेषघटाज्ञानादिवत्प्रत्यक्षमभविष्यत्। यथेह लोके घटं न जानामीत्यज्ञानमव्यवहितं प्रत्यक्षम्। अत्रोच्यते। न। अभिव्यञ्जकाभावात्। कथमभिव्यञ्जकाभाव इति चेच्छृणु—

शङ्का—यदि यह आपको अभीष्ट हो कि सदसद्-विकल्पजालसे रहित शुद्ध, बुद्ध वस्तुका वेदान्तवाक्योंसे बोध होता है; तथापि हमारी श्रद्धा वेदान्तवाक्यसे हटती जाती है। क्योंकि वाक्यके बिना भी, सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित ब्रह्मका ज्ञान, पण्डितोंसे लेकर गोपाल और मेषपाल पर्यन्त (ग्वालेगडरियों तक) सभीको सुषुप्ति दशामें होता ही है। फिर वेदान्तवाक्यकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ऐसा कहना उचित नहीं। क्योंकि सुषुप्ति समयमें सम्पूर्ण उपद्रवोंका मूलभूत अज्ञान बना रहता है। यदि सुषुप्तिमें अज्ञान न होता, तब तो वेदान्तवाक्योंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके बिना भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे निश्चयसे समस्त प्राणियोंको स्वभावसे ही प्रतिदिन सुषुप्ति होनेके कारण सकल संसारका उच्छेद होनेसे कैवल्यकी—मोक्षकी—प्राप्ति हो जाती और जहाँ एकबार मोक्ष हो गया फिर उसका उत्थान (जागना) नहीं हो सकता ! क्योंकि यदि कैवल्यसे भी पुनरुत्थान हो सकता तब तो फिर मोक्ष ही नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा कहे कि 'जिसको सुषुप्ति हुई है, वह तो

---

१ सुप्तोऽन्यः, भी पाठ है।

मुक्त ही हुआ है जिसको प्रबोध हुआ है, वह दूसरा ही है।' सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निद्रासे उठे हुए पुरुषको ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है कि मैंने सुषुप्ति कालमें किसी अन्य वस्तुको नहीं देखा। इसलिए शयन करनेवाला और प्रबुद्ध एक ही व्यक्ति है; ऐसा मानना चाहिए। जब ऐसा सिद्ध हुआ तब अवश्य ही सुषुप्तिमें अज्ञान भी मानना चाहिए। इसपर यदि कोई कहे कि यदि सुषुप्तिमें अज्ञान होता तो वह रागद्वेष और घटादि पदार्थोंके अज्ञानकी भाँति प्रत्यक्ष होता। जैसे जाग्रत्में 'मैं घटको नहीं जानता' इस प्रकार अज्ञानका प्रत्यक्ष होता है।' तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय जो अज्ञानादिकी प्रतीति नहीं होती उसमें कारण यह है कि उस समय उनका अभिव्यञ्जक नहीं है। यदि कहिए कि अभिव्यञ्जकका अभाव कैसे हुआ? तो सुनिए—

बाह्यां वृत्तिमनुत्पाद्य व्यक्तिः स्यान्नाऽहमो यथा।
नर्तेऽन्तःकरणं तद्वत् ध्वान्तस्य व्यक्तिराञ्जसी॥ ५८॥

जैसे बाह्य वृत्तिका उत्पादन किए बिना अहङ्कारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, वैसे ही बिना अन्तःकरणके अज्ञानकी प्रतीति स्पष्टरूपसे नहीं हो सकती॥ ५८॥

कश्चिदतिक्रान्तं प्रतिस्मृत्य 'दृश्यत्वादहमप्येवं लिङ्गं स्याद्द्रष्टुरात्मनः' इति निर्युक्तिकमभिहितमित्याह। किं कारणम्? अहं तज्ज्ञात्रोर्विवेकाऽप्रसिद्धेः। यथेह घटदेवदत्तयोर्ग्राह्यग्राहकत्वेन स्फुटतरो विभागः प्रसिद्धो लोके न तथेहाऽहङ्कारतज्ज्ञात्रोर्विभागोऽस्तीति। तस्मादसाध्वेतदभिहितमिति। अत्रोच्यते—

दाह्यदाहकतैकत्र यथा स्याद्वह्निदारुणोः।
ज्ञेयज्ञातृकतैवं स्यादहंज्ञात्रोः परस्परम्॥ ५९॥

कोई वादी पहले कही हुई बातोंको भूलकर कहता है कि "इस प्रकार दृश्यत्व तुल्य होनेसे अहङ्कार भी द्रष्टा आत्माका ज्ञापक है" यह बात जो पहले कही गयी है, वह युक्तिशून्य है। कारण अहङ्कार और उसके द्रष्टा साक्षी, इन दोनोंमें भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे इस लोकमें घटादि पदार्थोंका, जो कि दृश्य हैं, उनसे उनका द्रष्टा जो देवदत्त है, इन दोनोंका परस्पर भेद प्रसिद्ध है। वैसे ही अहङ्कार और साक्षीका विवेक प्रसिद्ध नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

जैसे दाह्यत्व और दाहकत्व एक ही जगह, वह्नि और काष्ठमें मालूम पड़ता है है, ऐसे ही अहङ्कार और साक्षीका परस्पर ज्ञातृज्ञेयभाव एकत्र मालूम पड़ता है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, इत्यादि प्रतीतिमें

ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों एकत्र हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। परन्तु अन्य स्थलोंमें प्रत्येकका भिन्न-भिन्न स्थलोंमें अवस्थान देख पड़ता है। जैसे आत्माका अन्तःकरणके बिना भी सुषुप्तिमें द्रष्टृत्व है। अतएव सुखदुःखादिरूप विविधज्ञान विषय धर्मोंसे युक्त अहङ्कारका घटादि जड़ पदार्थोंके सदृश द्रष्टृत्व नहीं हो सकता, इसलिए ग्राह्यत्व ही उसमें है जो कि ग्राहकत्व भी देख पड़ता है। वह अहङ्कार और आत्माके परस्पराध्याससे आत्मनिष्ठ ग्राहकत्व अर्थात् द्रष्टृत्व अहङ्कारमें भासमान होता है। जैसे केवल वह्निमें ही दाहकता है, परन्तु वह्निके संयोगसे काष्ठमें भी उसका व्यवहार होता है, इसलिए ग्राहकका ज्ञापक अहङ्कार है, ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है ॥ ५९ ॥

एवं तावदविद्योत्थस्यान्तःकरणस्य बाह्यविषयनिमित्तरूपाऽवच्छेदायाऽहंवृत्तिर्व्याप्रियते। तयाऽवच्छिन्नं सत्कूटस्थप्रत्यगात्मोपादानावबोधरूपस्या[1]व्यवधानतया विषयभावं प्रतिपद्यत इति। तत्र तयोर्ज्ञात्रहन्तारूपयोरवभासकावभास्यत्वसम्बन्धव्यतिरेकेण नाऽन्यत्सम्बन्धान्तरमुपपद्यते। अहन्तारूपं त्वात्मसात्कृत्वाऽहंकञ्चुकं[2] परिधायोपकार्यत्वोपकारकत्वक्षमः सन् बाह्यविषयेणोपकारिणाऽपकारिणा[3] वाऽऽत्मात्मीयं सम्बन्धं प्रतिपद्यते। तदभिधीयते।

इस प्रकार अविद्यासे उत्पन्न अन्तःकरणका बाह्य शब्दादि विषय प्रयुक्त जो वृत्तिज्ञानरूप परिणाम है उसको जाननेके लिए 'मैं' इस प्रकार अहंवृत्ति होती है, उससे युक्त होकर वही अन्तःकरण कूटस्थ प्रत्यगात्म निमित्तक जो अहङ्कारवृत्तिविशिष्ट अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्याभ्यास है उसका, अव्यवधानसे, विषय होता है। यहाँपर ज्ञाता और अहङ्कार इन दोनोंका भास्य भासक भाव सम्बन्धको छोड़कर और कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता। इसीलिए घटादिके सदृश आत्मीयरूपसे प्रतीति नहीं होती। प्रत्यगात्माने अहङ्कारात्मक अन्तःकरणको अपनेमें मिलाकर अहंरूप परिच्छेदको भी अपने ऊपर आरोपित कर लिया है, इसी कारण वह घटाद्युपकार और अपकारका विषय होता है। इसी कारण घटादि विषयोंके साथ आत्मीयरूपसे सम्बन्धको प्राप्त होता है। इस कारण स्वस्वामिभावरूप सम्बन्धान्तर विद्यमान है, इसलिए घटादिमें मदीयबुद्धिविषयता है। वही कहते हैं—

---

१ अनवबोधरूपस्य, भी पाठ है।

२ अहंकर्तृकं परिधाय, ऐसा और 'परिधायोपकार्यत्वापकार्यत्व०, ऐसा पाठ भी है।

३ बाह्यविषयोपकारिणा, भी पाठ है।

इदं ज्ञानं भवेज्ज्ञातुर्ममज्ञानं तथाऽहमः ।
अज्ञानोपाधिनेदं[1] स्याद्विक्रियाऽतोऽहमो मम ॥ ६० ॥

ज्ञाता साक्षीको इस प्रकारका ज्ञान साक्षात् अपनेसे भास्य अहंवृत्तिविशिष्ट अन्तःकरणमें होता है । वही साक्षी अहङ्कारके साथ एकताको अध्याससे जब प्राप्त होता है, तब घटादिमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका ज्ञान उपकार्यापकारकभावरूप सम्बन्धसे होता है । अज्ञानोपाधिक चैतन्याभ्याससे इदं इत्याकारक ज्ञान होता है, उसके बाद बाह्यउपकारादि सम्बन्धसे अहंपदार्थको 'मम' इस प्रकारका विकार होता है ॥ ६० ॥

एकस्यैव ज्ञातुरन्तर्बाह्यनिमित्तभेदाद्विभिन्ने[2]ऽपि विषय इदं ममेति ज्ञानं द्वैरूप्यं[3] जायत इत्युक्तम् । अत्रोपक्रियमाणापक्रियमाणस्यैव ज्ञातुर्विषये मम प्रत्ययो भवति, विपर्यये चेदंप्रत्यय इति कथमवगम्यते ? अवगम्यतामन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । तत्कथमित्याह—

अनुपक्रियमाणत्वान्न ज्ञातुः स्यादहं मम ।
घटादिवदिदं तु स्यान्मोहमात्रव्यपाश्रयात् ॥ ६१ ॥

अन्तर्निमित्त चैतन्याभास, बाह्यनिमित्त उपकारादि विषयज्ञान परिणामके भेदसे भिन्न-भिन्न विषय अन्तःकरण और घटादिमें 'इदम्' और 'मम' ऐसा ज्ञानद्वय होता है, ऐसा कहा गया । इसपर यह शङ्का होती है कि—"अहंकारोपाधिक ज्ञाताको घटादिविषयमें स्वामिभाव रूप सम्बन्धसे 'मम' ऐसा ज्ञान होता है और अज्ञानमात्रोपाधिकका अन्तःकरणमें 'इदम्' ऐसा ज्ञान होता है, यह कैसे जाना जाता है ?" इसका समाधान यह है कि—अन्वय व्यतिरेकसे ! वह कैसे, सो बतलाते हैं—

ज्ञाता साक्षी अहङ्कारसे उपकृत या अपकृत नहीं होता, इसलिए अहंकार घटादिके सदृश 'मम' ऐसे ज्ञानका विषय नहीं होता । मोहमात्र ही आलम्बन जिस चिदाभास का है, उसके सम्बन्धसे 'इदं' इस रूपसे अवभास्य होता है । उपकारकत्वादि शून्य अहंकारमें साक्षीका 'इदं' इत्याकारक प्रत्यय देख पड़ता है, इसलिए एतादृश घटादिमें 'इदम्' इत्याकारक ज्ञान ही होगा । उपकारकत्वादि धर्म युक्तमें 'मम' ऐसा ज्ञान होगा, यह देखना चाहिए ॥ ६१ ॥

मोहतत्कार्याश्रयत्वाज्ज्ञातृत्वविक्रिययोः पूर्वत्रेदंममज्ञानान्वयः प्रदर्शितः । अथाऽधुना तद्व्यतिरेकेण व्यतिरेकप्रदर्शनार्थमाह—

---

१ अज्ञानोपाधिनैवं स्यात्, भी पाठ है ।

२ भेदाभिन्ने, भी पाठ है ।

३ ज्ञानद्वैरूप्यम्, भी पाठ है ।

विक्रियाऽज्ञानशून्यत्वान्नेदं न च ममाऽऽत्मनः ।
उत्थितस्य सतोऽज्ञानं नाऽहमज्ञासिषं यतः ॥ ६२ ॥

आत्मामें अज्ञानरूप उपाधिके निमित्त अहंकारसाहिता है और अज्ञानकार्य परिणामी अन्त:करणके सम्बन्धसे परिणामित्वादि होता है । इस कारण अज्ञान और उसके कार्य अन्त:करणादि उपाधियोंसे आत्माको अहंकार और घटादिमें यथाक्रमसे 'इदम्' और 'मम' ऐसा ज्ञान होता है । इस प्रकार अन्वय दिखलाया । अब अज्ञान तत्कार्यके न होनेसे पूर्वोक्त ज्ञानद्वय नहीं होता, ऐसा व्यतिरेक दिखलाने के लिए कहते हैं—

सुषुप्ति समयमें शब्दादि आकारसे परिणाम होना, इस प्रकारका विकार या अज्ञान नहीं है, इसलिए उस समय 'इदम्' या 'मम' इस प्रकारका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उत्थित होनेपर मैं अब तक कुछ नहीं जानता था, ऐसी स्मृति होती है ॥ ६२ ॥

आत्मानात्मविवेकस्येयत्ताप्रदर्शनार्थमाह—
वाक्यप्रत्यक्षमानाभ्यामियानर्थः प्रतीयते ।
अनर्थकृत्तमोहानिर्वाक्यादेव सदात्मनः ॥ ६३ ॥

आत्मा और अनात्माके विवेककी अवधि दिखानेके लिए कहते हैं—

'त्वम्' पदार्थ शोधक वाक्य और अन्वयव्यतिरेकसे उत्पन्न आत्मानात्मविवेकानुभव रूप प्रत्यक्ष, इन दो प्रमाणोंसे सम्पूर्ण अनात्मासे पृथक् शुद्ध आत्माका अनुभव होता है । तब 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, ऐसी शङ्का मत कीजिए ? क्योंकि समस्त अनर्थके मूलभूत आत्माके अज्ञानकी निवृत्ति सदा महावाक्यसे ही होती है । दूसरे प्रमाणोंसे नहीं सकती ॥ ६३ ॥

द्वितीयाध्यायादौ श्रोतृचतुष्टयमुपन्यस्तम् । तत्र कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ सत्यां यः प्रत्यगात्मन्यवाक्यार्थतां प्रतिपद्यते, सः क्षपिताशेषान्तरायहेतुरिति न तं प्रति वक्तव्यं किञ्चिदप्यवशिष्यते । योऽपि वाक्यश्रवणमात्रादेव प्रतिपद्यते तस्याऽप्यतीन्द्रियशक्तिमत्वान्न किञ्चिदप्यपेक्षितव्यमस्ति । यश्च श्राविततत्त्वमस्यादिवाक्यः स्वयमेवाऽन्वयव्यतिरेकौ कृत्वा तदवसान एव वाक्यार्थं प्रतिपद्यतेऽसावपि यथार्थं प्रतिपन्न इति पूर्ववदेवोपेक्षितव्यः । यः पुनरन्वयव्यतिरेकौ कारयित्वाऽपि पुनः पुनर्वाक्यं श्राव्यते यथाभूतार्थप्रतिपत्तये तस्य कृतान्वयव्यतिरेकस्य सतः कथं वाक्यं श्राव्यत इति । उच्यते—

नवसङ्ख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमाद्यथा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ ६४ ॥

द्वितीयाध्यायके प्रारम्भमें चार प्रकारके श्रोताओंका वर्णन किया गया। उनमें जिसको सम्पूर्ण अनात्माकी निवृत्ति होकर स्वस्वरूप शुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ है वह तो सम्पूर्ण प्रतिबन्धकोंकी निवृत्ति होनेसे शुद्ध हुआ ही है। इसलिए उनके विषयमें कुछ वक्तव्य अवशिष्ट नहीं है और जो कि वाक्य श्रवण मात्रसे ही स्वस्वरूपको जान सकता है, उसको अतीन्द्रियपदार्थोंके समझनेकी शक्ति स्वतः ही है, इसलिए उसको भी कुछ कहना अवशिष्ट नहीं है। ऐसे ही जिसने आचार्यके मुखसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका अच्छी तरहसे अर्थ श्रवण करके स्वयमेव अन्वय व्यतिरेक पूर्वक यथोचित मनन करके अन्तमें साक्षात्कारको प्राप्त किया है वह भी ठीक ही समझा है, इसलिए पूर्ववत् उपेक्षणीय है। परन्तु जिसको अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा पुनः पुनः ज्ञान कराकर, यथार्थ ज्ञान होने के लिए, वाक्यका श्रवण कराया जाता है, उस पुरुषको अन्वय-व्यतिरेकके अनन्तर किस चालसे वाक्यका श्रवण कराया जाता है, यह कहते है—

जैसे [दस आदमी किसी कामके लिए इकट्ठे होकर ग्रामसे अरण्यमें गये। वहाँसे लौटनेपर विचार करने लगे कि हमलोग जितने गये थे, सब आये कि नहीं ? तब उस समय] गणना करनेमें प्रवृत्त हुआ पुरुष अपनेसे अतिरिक्त नौ आदमियोंको देखता हुआ भी नवसङ्ख्यासे भ्रान्तिमें पड़कर 'दसवाँ तू है ?' इस वाक्यके श्रवणके बिना अपनेको 'मैं दशम हूँ' ऐसा नहीं जानता ॥ ६४ ॥

अथ दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिकार्थे समर्पयिष्यन्नाह—

अपविद्धद्वयोऽप्येवं तत्त्वमस्यादिना विना ।
वेत्ति नैकलमात्मानं नाऽन्वेष्यं चाऽत्र कारणम् ॥ ६५ ॥

दृष्टान्त के प्रतिपादनसे सिद्ध अर्थको दार्ष्टान्तिकमें समर्पित करते हुये कहते हैं—

ऐसे ही संसारी पुरुष वस्तुतः शुद्ध बुद्ध ब्रह्मरूप होनेपर भी अज्ञानसे अपने स्वरूप को भूल कर बिना 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके श्रवण किये 'मैं वही परब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं जानता। स्वयंप्रकाश आत्मामें अज्ञान कहाँसे आया, ऐसी शङ्का मत कीजिये ! क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। इसलिए उसके कारणके अन्वेषणमें मत लगिये ! ॥ ६५ ॥

नाऽन्वेष्यं चात्रकारणमित्युक्तं तत्कस्मादिति चोदिते- प्रत्याह। अन्वेषणाऽसहिष्णुत्वात्। तत्कथमित्याह—

सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम् ॥ ६६ ॥

'इसमें कारणका अन्वेषण मत करो।' ऐसा कहा गया। इसपर यदि कोई प्रश्न करे कि क्यों नहीं करें? तो इसका उत्तर यह है कि वह अज्ञान (भ्रान्ति) अन्वेषणको सहन नहीं कर सकता। सो कैसे? यह बतलाते हैं—

जो यह आत्मस्वरूपकी विस्मृतिसे विपरीत भ्रान्ति हुई है, वह लोकसिद्ध पदार्थोंके सदृश कारणवाली नहीं है। अतएव उचित आलम्बनसे रहित है। समस्त युक्तियोंसे विरुद्ध है। इसलिए जैसे अन्धकार सूर्यको नहीं सह सकता, उसी प्रकार यह भी विचारको सहन नहीं कर सकती [अर्थात् विचार करनेपर वह एकदम ही निवृत्त हो जाती है।] ॥ ६६ ॥

तस्याः खल्वस्या अविद्याया भ्रान्तेः सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण निवृत्तिः।

बुभुत्सोच्छेदिनी चाऽस्य सदसीत्यादिना दृढम्[1]।
प्रतीचि प्रतिपत्तिः स्यान्नासौ मानान्तराद् भवेत् ॥ ६७ ॥

पूर्वोक्त इस अविद्यारूप भ्रान्तिकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानका उदय होने से ही होती है, अन्य किसी साधनसे नहीं। और सर्वविध संशयोंको दूर करनेवाला—'तू वही है' इस प्रकारका दृढ़ तत्त्वज्ञान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्योंसे ही हो सकता है, प्रमाणान्तरसे नहीं ॥ ६७ ॥

कथं पुनर्वाक्यं प्रतिपादयत्येवेति चेत्, दृष्टान्तोक्तिः—
जिज्ञासोर्दशमं यद्वन्नवातिक्रम्य ताम्यतः।
त्वमेव दशमोऽसीति कुर्यादेवं प्रमां वचः ॥ ६८ ॥

जो ज्ञान प्रमाणान्तरसे नहीं हो सकता, उसको वाक्य कैसे उत्पन्न कर सकता है, ऐसा यदि कहो तो, इसमें दृष्टान्त देते हैं—

जैसे, नौ आदमियोंसे अतिरिक्त दशवेंको ढूँढनेमें परेशान हुए पुरुषको 'दसवाँ तू है' यह वाक्य यथार्थ ज्ञानका उत्पन्न करदेता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य जिज्ञासुपुरुषको यथार्थ ज्ञान करा देता है। ॥ ६८ ॥

सा च तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणजा प्रमोत्पन्नत्वादेव। न च नैवमिति प्रत्ययान्तरं जायते। तदेतद् दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—

दशमोऽसीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते।
आदिमध्यावसानेषु न नवस्वस्य संशयः ॥ ६९ ॥

---

१ दृढा, ऐसा पाठ भी है।

एवं तत्त्वमसीत्यस्माद् द्वैतनुत्प्रत्यगात्मनि ।
सम्यग्ज्ञाततत्वमर्थस्य जायेतैव प्रमा दृढा[1] ॥ ७० ॥

'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यके श्रवणसे होनेवाला ज्ञान यथार्थ ही है। क्योंकि वह समस्त द्वैतप्रत्ययोंको बाधित करके उत्पन्न हुआ है और उसके उदय होनेके अनन्तर उसका बाधक ज्ञानान्तर (दूसरा ज्ञान) उत्पन्न होता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। इसी बातका दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

'मैं दशम हूँ' इस ज्ञानके उत्पन्न होनेके पूर्व, अथवा उस समयमें, या उत्तर-कालमें गणना करनेवाले पुरुषको, नौ आदमियोंके विषयमें संशय न होनेसे 'दशम तू है' इस वाक्यसे 'मैं दशम हूँ !' इस प्रकारका ज्ञान जैसे दृढ़ हो जाता है। वैसे ही जिस पुरुषकों 'त्वम्' पदार्थका ज्ञान भली प्रकारसे हुआ है, उसको 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे, समस्त द्वैतको बाधित करनेवाला, प्रत्यगात्माका यथार्थज्ञान दृढ़ होता ही है ॥ ६९ ७० ॥

प्रत्यागात्मनि प्रमोपजायत इत्युक्तम्। तत्र चोद्यते। किं यथा घटादिप्रमेयविषया प्रमा कर्त्रादिकारकभेदाऽनपह्नवेन जायते तथैव उताऽशेषकारकग्रामोपमर्देन कर्तुः प्रत्यगात्मनीति, उच्यते—

प्रत्यक्त्वाऽस्य स्वतोरूपं निष्क्रियाकारकाफलम् ।
अद्वितीयं तदिद्धा धीः प्रत्यगात्मेव लक्ष्यते ॥ ७१ ॥

प्रत्यगात्माका यथार्थज्ञान होता है, यह बात कही गई। इसपर ऐसी शङ्का होती है कि जैसे घटादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान कर्त्ता, करण, कर्म इत्यादि पदार्थोंके भेदको बाधित न करता हुआ उत्पन्न होता है। आत्मज्ञान भी वैसे ही उत्पन्न होता है अथवा सम्पूर्ण द्वैतको बाधित करके उत्पन्न होता है? इसका उत्तर देते हैं—

इस आत्माका जो प्रत्यक्त्व अर्थात् चैतन्य सर्वान्तर-स्वरूप है, वही निष्क्रिय, अकारक और अफल, अद्वितीय आत्माका वास्तविक स्वरूप है। इससे इतर जो है, वह सब अविद्यासे आरोपित है। जब आत्माका वास्तवमें ऐसा स्वरूप है, तब उसका जो ज्ञान है वह भी आत्मस्वरूपसे व्याप्त होकर वैसा ही होता है, अर्थात् आत्मज्ञान समस्त प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा, इत्यादि द्वैत प्रपञ्चका नाश करके ही उदय होता है ॥ ७१ ॥

---

१ जायते वै प्रमा दृढा, ऐसा पाठ भी है।

यस्मादेवम्—

विपश्चितोऽप्यतस्तस्यामात्मभावं वितन्वते ।
[1]दवीयःस्विन्द्रियार्थेषु क्षीयते ह्युत्तरोत्तरम् ॥ ७२ ॥

जब कि ऐसा है अर्थात् चिदाभास द्वारा चैतन्यके साथ तादात्म्य होनेसे ही बुद्ध्यादिमें प्रत्यक्त्व है, स्वाभाविक नहीं। इसी कारण विद्वान् लोग भी व्यवहार कालमें उसी बुद्धिमें आत्मत्वकी भ्रान्तिमें पड़ते हैं। इसीसे बुद्धिमें चैतन्याभासानुविद्धत्व है, यह प्रतीत होता है और बुद्धिसे दूर रहनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें उत्तरोत्तर आत्मभ्रान्तिकी विरलता देख पड़ती है। [इसलिए भी बुद्धिमें चैतन्याभास अनुविद्ध है, यह जाना जाता है।]

आह। यदि वाक्यमेव यथाभूतार्थावबोधकमथ कस्य हेतोरविद्योत्थापितस्य कर्तृत्वादेरुपदेश इत्युक्ते प्रतिविधीयते—

भ्रान्तिप्रसिद्ध्याऽनूद्यार्थं तत्त्वं भ्रान्तिबाधया ।
अयं नेत्युपदिश्येत तथैवं[2] तत्त्वमित्यपि ॥ ७३ ॥

इसपर कोई शङ्का करता है कि यदि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य ही आत्माके यथार्थ स्वरूपको बोधन करता है, तो फिर श्रुति किस कारणसे अविद्या-प्रयुक्त कर्तृत्वादि-धर्मोंका उपदेश करती है? इसका उत्तर देते हैं—

यह क्या स्थाणु है, किं वा पुरुष है, इस प्रकारका सन्देह, अथवा यह पुरुष ही है, ऐसा विपरीत निश्चय जिस विषयमें हुआ है, वहाँपर भ्रान्तियुक्त पुरुष-प्रसिद्धिका अनुवाद करके 'जो यह पुरुष देख पड़ता है, वह स्थाणु है, पुरुष नहीं।' इस प्रकार आरोपित पुरुषाकारको बाध करके पुरोवर्ती वस्तुके स्वरूपका जैसे उपदेश दिया जाता है। वैसे ही अविद्यासे आरोपित कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिका अनुवाद करके, उस आरोपित रूपका बाध करके जीवका यथार्थ स्वरूप बोधन किया जाता है ॥ ७३ ॥

इममर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोपयति—

स्थाणुः स्थाणुरितीवोक्तिर्न नृबुद्धिं निरस्यति ।
अनुवादात्तथैवोक्तिर्भ्रान्तिं पुंसो न बाधते ॥ ७४ ॥

इसी बातको व्यतिरेक दृष्टान्तसे बुद्धिमें आरूढ़ कराते हैं—

जैसे आरोपित पुरुषाकारका अनुवाद न करनेसे विरोध प्रतीत न होनेके कारण

---

१ दवीयसेन्द्रि०, ऐसा पाठ भी है।

२ यथैवं, ऐसा पाठ भी है।

'यह स्थाणु है' 'स्थाणु है' केवल ऐसी उक्ति पुरुष बुद्धिको नहीं निवृत्त कर सकती। वैसे ही 'वह तू है' केवल इतना ही कहनेपर, यदि विरुद्धाकारका अनुवाद न किया जाय तो, संसारित्वका निराकरण भी स्पष्ट नहीं होगा ॥ ७४ ॥

यस्माच्छ्रोतृप्रसिद्धानुवाद्येव त्वमिति पदं तस्मादुद्दिश्यमानस्थत्वात् दुःखित्वादेरविवक्षितत्वमेव। विधीयमानत्वे हि सति विरोधप्रसङ्गो न तु विधीयमानानूद्यमानयोरिति। स्वप्रधानयोर्हि पदयोर्विरोधाशङ्कासामान्यालिङ्गितत्वात्तयोर्न विपर्यये।

अनालिङ्गितसामान्यौ न जिहासितवादिनौ।
व्युत्थितौ तत्त्वमौ तस्मादन्योन्याभिसमीक्षणौ[1] ॥७५॥

[यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि 'संसार जिसमें प्रत्यक्षसे अनुभूयमान है उस जीवकी असंसारी ब्रह्मके साथ एकता कैसे होगी ?' तो उसका यह उत्तर है कि ब्रह्मरूपता विधान करनेके लिए केवल 'त्वम्' पदार्थका अनुवादमात्र कर रहे हैं, विधान नहीं करते।]

चूँकि विधान नहीं है, केवल श्रोतृप्रसिद्धिका अनुवाद ही त्वं पदसे किया है, इस कारण उद्दिश्यमान त्वम् पदार्थमें रहनेवाला दुःखित्वादिरूप संसार विवक्षित नहीं है। यदि वह विधीयमान होता, तब विरोध प्रसङ्ग होता। विधीयमान और अनूद्यमानका तो कोई विरोध नहीं है। यदि दोनों पद स्वप्रधान हों तब विरोधकी शङ्का होती है। क्योंकि जैसे गौ अश्व है, इत्यादि प्रयोगोंमें गोपद-वाच्य तथा अश्वपद-वाच्य गोत्व एवं अश्वत्व सामान्यका परित्याग न होनेसे दोनों पदोंका एकार्थबोधकत्वरूप सामान्याधिकरण विरुद्ध होता है। दोनों ही अपने-अपने सामान्य धर्मोंसे युक्त हैं। जहाँ इसका वैपरीत्य है अर्थात् एक अप्रधान (अङ्गरूप) और दूसरा प्रधानरूप (अङ्गी) है, वहाँ विरोध नहीं होता, इसी बातको कहते हैं—

जिन्होंने सामान्य अर्थात् दुःखित्व, अदुःखित्व, परोक्षत्व, अपरोक्षत्वरूप धर्मोंका परित्याग किया है अर्थात् जिनमें ये अविवक्षित हैं, उन 'तत् त्वम्' पदार्थोंका कोई विरोध नहीं है। वे दोनों पद अखण्ड अद्वितीय वाक्यार्थमें तात्पर्य होनेके कारण जिहासित अर्थात् परित्याग करनेके लिए इष्ट जो परोक्षत्व, सद्वितीयत्व और परिच्छिन्नत्वादि हैं उनका बोध नहीं करते। क्योंकि वे परस्परके अनुरोधसे अपने अपने वाच्यार्थ—सामान्यरूपसे व्युत्थित हैं अर्थात् परस्पर विरुद्ध अंशको परित्याग करके अविरुद्ध अंशमात्रमें व्यवस्थित हैं। अतएव कोई विरोध नहीं है ॥ ७५ ॥

---

१ अन्योन्याभिसमीक्षणात्। ऐसा पाठ भी है।

अपास्तसामान्यार्थत्वादनुवादस्थत्वाद्विधीयमानेन च सह विरोधाद्दुःखित्वादेरस्तु कामं जिहासितार्थयोरसंसर्गो यथोपन्यस्तदोषविरहात्तत्त्वमर्थयोः संसर्गोऽस्तु नीलोत्पलवदिति चेन्नैवमप्युपपद्यते । तस्मात्—

तदर्थयोस्तु निष्ठात्माद्वयपारोक्ष्यवर्जितः ।
नाऽद्वितीयं विनाऽऽत्मानं नात्मा नित्यदृशा विना ॥७६॥

शङ्का—परोक्षत्व, सद्वितीयत्वरूप वाच्यार्थ सामान्य है, इस कारण परित्यक्त है और दुःखित्वादि अनूद्यमान त्वंपदार्थ में रहनेवाला है एवं विधीयमान तत् पदार्थके साथ विरुद्ध है। इसलिए दोनों वाच्यार्थोंका सम्बन्ध न होनेपर भी 'नील-कमलके समान' दोनों लक्ष्यार्थोंका परस्पर सम्बन्ध ही वाक्यार्थ क्यों नहीं होता ?

समाधान—यह भी उपपन्न (युक्त) नहीं। क्योंकि, जो तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ लक्षणभूत हैं, उनका पर्यवसानस्वरूप जो आत्मा है वह द्वैत तथा परोक्षतासे रहित, केवल अखण्डस्वरूप है। तब नील और उत्पलके सदृश भेद प्रतीत न होनेपर 'संसर्ग' वाक्यार्थ कैसे हो सकता है। अद्वितीय तत्पदलक्ष्य ब्रह्म प्रत्यगात्माके बिना स्वरूपको प्राप्त नहीं होता। वैसा होनेसे अद्वितीय ही नहीं होगा। ऐसे ही त्वंपदलक्ष्य आत्मा भी तत्पदलक्ष्य नित्य-सिद्ध चैतन्यज्योतिके बिना स्वरूपको प्राप्त नहीं होता। वैसा होनेसे नित्य अपरोक्ष चित् रूपता नहीं बनती। इस प्रकार जब भेद प्रतीत नहीं होता, अतएव तत्त्वम् पदकी अखण्डार्थता है ॥ ७६ ॥

अत्राऽऽह। किमिह जिहासितं किं वोपादित्सितमिति? उच्यते। प्रत्यगात्मार्था[1] विधायिनस्त्वंपदादुभयं प्रतीयतेऽहं दुःखी प्रत्यगात्मा च। तत्र च प्रत्यगात्मनोऽहं दुःखीत्यनेनाभिसम्बन्ध आत्मयाथात्म्यानवबोधहेतुक एव। अतोऽहमर्थोऽनर्थोपसृष्टत्वादज्ञानोत्थत्वाच्च हेय इति प्रत्यक्षतोऽवसीयते। तदर्थे किं हेयं किं वोपादेयमिति नावध्रियते। तत इदमभिधीयते।

पारोक्ष्यं यत्तदर्थे स्यात्तद्धेयमहमर्थवत्।
प्रतीचेवाऽहमोऽभेदः पारोक्ष्येणात्मनोऽपि मे ॥७७॥

इसपर कोई शङ्का करते हैं कि 'जब त्वम्पद शुद्ध आत्माका प्रतिपादक है, तब इसमें त्यागने योग्य तथा ग्रहण करने योग्य अंश कौनसे हैं ?' इसका उत्तर देते

---

१ अर्थविधायिनः। ऐसा पाठ भी है।

है कि त्वं पद केवल शुद्ध आत्माका ही प्रतिपादक नहीं है, किन्तु प्रत्यगात्मप्रतिपादक त्वं पदसे दोनों प्रतीत होते हैं—दुःखित्वादि धर्मविशिष्ट अहङ्कार और प्रत्यगात्मा। इसपर भी कोई कहता है कि—"यदि त्वं पदसे दोनोंकी प्रतीति होती है तब दोनों ही उपादेय होने चाहिए, क्यों इनमेंसे एकको उपादेय और दूसरेको हेय बतलाते हो? यदि किसीको हेय बनाना ही चाहिए, ऐसा ही आग्रह हो, तब आत्मांशको ही हेय और दुःखित्वांशको ही उपादेय क्यों नहीं मानते हो?" इसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्माको दुःखित्वादि विशिष्ट अहङ्कारसे जो सम्बन्ध हुआ है वह आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञान न होनेसे, केवल अज्ञानसे, ही हुआ है। अतएव अहङ्कार ही अनर्थका कारण है और अज्ञानसे उत्पन्न होनेसे असत्य भी है। इसलिए वही हेय है, ऐसा प्रत्यक्षसे जाना जाता है। किन्तु तत्पदार्थमें कौन अंश हेय है और कौन अंश उपादेय है, यह अभी तक नहीं जाना। इसलिए उसका निर्णय करनेके लिए यह कहते हैं—

तत्पदार्थमें जो परोक्षता है वह अहङ्कारकी तरह त्यागने योग्य है। क्योंकि जैसे प्रत्यगात्माके साथ अहङ्कारका अभेद अज्ञानसे ही हुआ है, वैसे ही साक्षीस्वरूप परमात्मा का भी परोक्षताके साथ अभेद अज्ञानकृत ही है, अतएव परोक्षत्वांश हेय है॥ ७७॥

कथं पुनस्तदर्थोऽद्वितीयलक्षणः प्रत्यगात्मोपाश्रयं सद्वितीयत्वं दुःखित्वं निरन्वयमपनुदतीति? उच्यते। न चैतयोर्निवर्तकनिवर्त्यभावं वयं ब्रूमः। कथं तर्हि? त्वमर्थे प्रत्यगात्मनि प्रागनवबुद्धाद्वितीयता साऽनेनाऽवबोध्यते। अतोऽनवबोधनिरासेन तदुत्थस्य सद्वितीयत्वस्य त्वमर्थस्थस्य परोक्षत्वस्य च तदर्थस्थस्य निरसनान्न वैयधिकरण्यादिचोद्यस्यावसरोऽस्तीति। तदिदमभिधीयते—

तत्त्वमर्थेन संपृक्तो[1] नानात्वं विनिवर्तयेत्।
[2]नाऽपरित्यक्तपारोक्ष्यं त्वं तदर्थं सिसृप्सति॥ ७८॥

शङ्का—तत्पदार्थके साथ अभेद होनेसे त्वंपदार्थमें वर्तमान दुःखित्वादि धर्म हेय है, ऐसा आपने बतलाया। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि, तत्पद त्वंपदार्थका अवबोधक न होनेसे त्वंपदार्थमें आरोपित संसारका निवर्तक नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा कहीं देखनेमें नहीं आता कि शुक्तिके ज्ञानसे रज्जुमें सर्पभ्रम नष्ट हो जाता हो। और यदि 'तत्' पद भी 'त्वम्' पदार्थका अवबोधक है, ऐसा कहा जाय, तब पौनरुक्त्य, बुद्धिसङ्कर, पदान्तर-वैयर्थ्य, इत्यादि दोष उपस्थित होंगे?

---

१ संपृक्तौ, ऐसा पाठ भी है।

२ नापरित्यज्य, ऐसा पाठ भी है।

समाधान—हम त्वंपद और तत्पद अथवा इनके जो अर्थ हैं, उनका साक्षात् निवर्त्यनिवर्त्तक भाव है, ऐसा नहीं कहते, किन्तु त्वंपदार्थमें तत् शब्दसे अद्वितीय ब्रह्मरूपता का विधान करनेसे उसका अज्ञान निवृत्त हो जाता है। इसलिए अज्ञानके निराससे अज्ञानजनित त्वंपदार्थनिष्ठ सद्वितीयत्व तथा तत्पदार्थनिष्ठ परोक्षत्वका निरास होता है। अतएव पूर्वोक्त दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इन्हीं सब बातों का प्रतिपादन करते हैं—

तत्पदार्थ त्वंपदार्थके साथ अभेदसे मिलनेपर त्वंपदार्थके नानात्वको निवृत्त कर देता है। ऐसे ही त्वंपदार्थ भी तत्पदार्थके परोक्षत्वरूप विरुद्ध धर्मका निवर्त्तन किये बिना तत्पदार्थके साथ अभिन्न नहीं होता। इसीलिए त्वंपदार्थके अभेदसे तत्पदार्थकी परोक्षता निवृत्त हो जाती है॥ ७८॥

कस्मात्पुनः कारणात्तदर्थोऽद्वितीयलक्षणस्त्वमर्थेन प्रत्यगात्मना [1]पृथगर्थः सन्नविद्योत्थं सद्वितीयत्वं निहन्तीति। उच्यते। विरोधात्। तदुच्यते—

संसारिताऽद्वितीयेन पारोक्ष्यं चात्मना सह।
प्रासङ्गिकं विरुद्धत्वात्तत्त्वंभ्यां बाधनं तयोः॥ ७९॥

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका जीव-ब्रह्म के एकत्व प्रतिपादनमें ही तात्पर्य है दुःखित्वादि निवृत्तमें नहीं है। यदि दुःखित्वादि निवृत्तिमें भी तात्पर्य माना जाय, तब वाक्यभेद हो जायगा! दो तात्पर्य होनेसे वाक्यभेद दोष शास्त्रकारोंने माना है। अतएव यह जो कहते हो कि अद्वितीय तत्पदार्थ त्वंपदार्थ—प्रत्यगात्मा साक्षीसे अभेदको प्राप्त होकर अविद्या-जनित सद्वितीयत्वका निवर्त्तक होता है, यह बात ठीक नहीं है!

समाधान—तत्वमसि, इत्यादि वाक्यका तात्पर्य-विषय जो जीव और ब्रह्म का ऐक्य है, उसके साथ विरोध होनेके कारण दुःखित्वादिकी भी निवृत्ति हो जाती है। वही कहते हैं—

अद्वितीयत्व के साथ संसारित्व विरुद्ध है तथा अपरोक्ष आत्माके साथ परोक्षत्व विरुद्ध है। इस प्रकारसे दोनोंका प्रतिपाद्य अद्वितीयत्व और प्रत्यक्त्वके साथ विरोध रहनेसे ऐक्यपरक तत्पद और त्वंपदसे दोनोंका बाध स्वभावतः हो जाता है अर्थात् अपने आप विरुद्ध धर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है॥ ७९॥

तत्त्वमर्थयोस्तु बाधकत्वेऽन्यदपि कारणमुच्यते—

---

१ अपृथगर्थः, ऐसा पाठ भी है।

अज्ञातपुरुषार्थत्वाच्छ्रौतत्वात्तत्त्वमर्थयोः
स्वमर्थमपरित्यज्य बाधकौ [1]स्तां विरुद्धयोः ॥ ८० ॥

संसारित्व और परोक्षत्वरूप धर्मोंका विरोध होनेके कारण यदि तत् त्वं पदार्थसे बाध होता है, फिर विरोध समान होनेसे विपरीत ही क्यों नहीं होता अर्थात् तत् त्वं पदार्थका ही बाध क्यों नहीं होता ? इस आशङ्काको दूर करनेके लिए तत् त्वम् पदार्थ ही बाधक होते हैं, इस विषयमें और भी कारण बतलाते हैं—

तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थका ऐक्य प्रमाणान्तरसे अज्ञात है तथा ज्ञात होनेसे मुक्तिरूप फलको देता है, इसलिए वह श्रुतिके तात्पर्यका विषय है। परोक्षत्व तथा संसारित्व पूर्वोक्त प्रकारसे अज्ञात अथवा पुरुषार्थरूप नहीं है, इसलिए श्रुतिका उनके कथनमें तात्पर्य नहीं है। इसीलिए तत्त्वं पदार्थ ही अपना विशेषण विशेष्यभावरूप अर्थका परित्याग न करके विरोधीभूत परोक्षत्व, दुःखित्वादिके बाधक होते हैं ॥ ८० ॥

एवं तावद्यथोपक्रान्तेन प्रक्रियावर्त्मना न प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरैर्विरोधगन्धोऽपि सम्भाव्यते। यदा पुनः सर्वप्रकारेणाऽपि यतमाना नैवेमं वाक्यार्थं सम्भावयामः प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधत एव। तस्मिन्नपि पक्ष उच्यते—

प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेद्वाक्यमर्थं वदेत्कचित्।
स्यात्तु तद् दृष्टिविध्यर्थं योषाऽग्निवदसंशयम् ॥ ८१ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकियाके मार्गसे प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरसे विरोधका लेश भी सम्भावित नहीं होता। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरसे विरोध है, ऐसा ही मान कर सब प्रकारसे यत्न करनेपर भी अखण्ड वाक्यार्थकी सम्भवना नहीं ही हो सकती, ऐसा ही आपका हठ हो तो उस पक्षमें भी कोई क्षति नहीं है। यह कहते है—

यदि वाक्य कहींपर प्रत्यक्षादि विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करे, तब वह वाक्य निःसंशय उपासना विधानार्थ होगा। जैसे कि—'स्त्री अग्नि है' यह वाक्य स्त्रीमें अग्निबुद्धिका विधान करनेके लिए है। क्योंकि यह वाक्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध है। ऐसा प्रकृतमें मान लेनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यकी वस्तुनिष्ठताका परित्याग करके दृष्टिके विधानके लिए यह वाक्य है, ऐसा मानना पड़ेगा ॥ ८१ ॥

यदा तु तत्त्वमस्यादिवाक्यं सर्वप्रकारेणापि विचार्यमाणं न क्रियां कटाक्षेणाऽपि वीक्षते, तदा प्रसङ्ख्यानादिव्यापारो दुःसम्भाव्य इति। तदुच्यते—

---

१ बाधकौ स्तः, ऐसा पाठ भी है।

वस्त्वेकनिष्ठं वाक्यं चेन्न तस्य स्यात्क्रियार्थता ।
वस्तुनो ह्येकरूपत्वाद्विकल्पस्याप्यसम्भवः ॥ ८२ ॥

जब कि उपक्रम, उपसंहारादि षड्विध तात्पर्य-निर्णायक लिङ्गसे विचार करके प्रयत्नसे देखनेपर भी तत्वमस्यादि वाक्य क्रियापर है, ऐसी सम्भावना तक नहीं होती, तब यह वाक्य उपासना-विधिपरक है, यह कहना अत्यन्त असम्भावित है, वही कहते हैं—

वाक्य यदि केवल वस्तुपरक है, तब वस्तु, जो जीव-ब्रह्मका ऐक्य है, वह कूटस्थ होनेसे क्रियासाध्य नहीं हो सकता। क्योंकि कूटस्थ होनेसे ही वह नित्यसिद्ध है। और वह उपासनादि क्रियासाध्य है, ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता। अतएव यह वाक्य प्रसङ्ख्यानका अर्थात् उपासनाका विधायक नहीं है ॥ ८२ ॥

भिन्नविषयत्वाच्च न प्रमाणान्तरविरोधः। कथम्। उच्यते—
अपूर्वाधिगमं कुर्वत् प्रमाणं स्यान्न चेन्न तत्।
न विरोधस्ततो युक्तो विभिन्नार्थावबोधिनोः ॥ ८३ ॥

[प्रमाणान्तरके साथ विरोध है, ऐसा मान लेनेपर भी उसका परिहार कहा, अब यह कहते हैं कि—] दोनोंका (वाक्य और प्रत्यक्षका) विषय भिन्न-भिन्न है, इसलिए भी प्रमाणान्तरके साथ विरोध नहीं है। क्यों नहीं है? यह बतलाते हैं—

अन्य प्रमाणसे अज्ञात अर्थको कहनेवाला ही प्रमाण प्रमाण माना जाता है। यदि प्रमाण अज्ञात अर्थका बोध न करके ज्ञात अर्थका ही बोध करे तब वह अनुवादककी तरह प्रमाण नहीं हो सकेगा। इसलिए प्रत्यक्ष और वाक्य इन दोनों प्रमाणोंका विषय परस्पर भिन्न ही है, ऐसा मानना चाहिए। तब भिन्न-भिन्न अर्थोंका बोध करानेवालोंका परस्पर विरोध कैसे होगा? अर्थात् विरोध नहीं हो सकता ॥ ८३ ॥

य एवमपि भिन्नविषयाणां विरोधं वक्ति सोऽत्रापि विरोधं ब्रूयात्—

नाऽयं शब्दः कुतो यस्माद्रूपं पश्यामि चक्षुषा।
इति यद्वत्तथैवाऽयं विरोधोऽक्षजवाक्ययोः ॥ ८४ ॥

जो इस प्रकार भी (इतना समझनेपर भी) भिन्न-विषयवाले प्रत्यक्ष और वाक्य इन दोनोंका परस्पर विरोध है, ऐसा कहता है वह वादी तो ऐसे स्थलोंमें भी विरोध कह सकता है, जैसे कि—'यह शब्द नहीं है। क्योंकि मैं चक्षुसे रूपको देखता हूँ' अर्थात् ऐसे स्थलमें रूप-ग्राहक चक्षु एवं शब्द-ग्राहक श्रोत्रमें जैसे विरोध नहीं हो सकता। ऐसे ही प्रकृत स्थलमें भी विरोध नहीं है ॥ ८४ ॥

प्रामाणानां सतां न विरोधः श्रोत्रादीनामिव भिन्नविषयत्वात्। ययोश्चाऽभिन्नविषयत्वं तयोराखुनकुलयोरिव प्रतिनियत एव बाध्य-बाधकभावः स्तात्। अतस्तदुच्यते—

प्रत्यक्षं चेन्न शाब्दं स्याच्छाब्दं चेदक्षजं कथम्।
प्रत्यक्षाभासः प्रत्यक्षे ह्यागमाभास आगमे ॥ ८५ ॥

शङ्का—कहीं प्रत्यक्ष अनुमानसे बाधित होता है। जैसे—'सैवेयं ज्वाला' यहाँपर ज्वालाका ऐक्य प्रत्यक्ष अनुमानसे बाधित होता है। ऐसे ही 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' यह वाक्य 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्यसे बाधित होता है। तब प्रमाणोंका विरोध नहीं है, यह बात कैसे कह सकते हैं!

समाधान—जहाँ दोनों प्रमाण एक ही विषयमें भिन्नरूपताका बोध कराते हैं, वहाँपर उनका बाध्य-बाधकभाव होनेपर भी दोनों प्रमाण नहीं, किन्तु एक ही प्रमाण है। जो बाधित हुआ है वह अप्रमाण है। जहाँ दोनों प्रमाण हैं वहाँ उनका विरोध ही नहीं है। क्योंकि श्रोत्रादिके समान दोनोंके विषय ही भिन्न हैं। और जहाँ दोनोंका विषय एक है वहाँ चूहा और नकुलके समान बाध्य-बाधक भाव व्यवस्थित है, विपरीत नहीं होता। यह कहते हैं—

जो वस्तुत: प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है, वह शब्द प्रमाणसे बाधित भी नहीं होगा किंवा बोधित भी नहीं होगा। इसलिए वह शब्द-प्रमाणक नहीं है। जो शब्दप्रमाणक है वह प्रत्यक्षसे बाधित भी नहीं होता किंवा बोधित भी नहीं होता। इसलिए प्रमाणोंका कोई विरोध नहीं है। जिनमें बाध्य-बाधकभाव रहता है, उन दोनोंमें एक ही प्रमाण है, दूसरा अप्रमाण है। जैसे–'यह शुक्ति है, ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण मानने पर 'यह रजत है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रमाण होता है। ऐसे ही एक विषयमें शब्द प्रमाण मान लिया गया तो वहाँ उसका विरोधी दूसरा शब्द प्रमाणाभास हो जाता है। इस प्रकारसे आगम और प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष और अनुमानका बाध्य-बाधकभाव प्रसिद्ध है, अन्य प्रकारसे नहीं ॥ ८५ ॥

न च प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तन्याय इह सम्भवति शब्दादीनां प्रत्येकं प्रमाणात्वात्। अत आह—

स्वमहिम्ना प्रमाणानि कुर्वन्त्यर्थावबोधनम्।
इतरेतरसाचिव्ये प्रामाण्यं नेष्यते स्वतः ॥ ८६ ॥

यदि कोई कहे कि 'जैसे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, ये परस्पर सापेक्ष, रहकर ही बोध कराते हैं। वैसे ही प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी परस्परापेक्षासे ही बोधकता

होनी चाहिए ?' तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रतिज्ञा आदि प्रमाणके अवयव हैं, इसलिए वहाँ परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। प्रत्यक्षादि तो स्वतः प्रमाण हैं, इसलिए उन्हें परस्परकी अपेक्षा नहीं है। यदि उनमें परस्परकी अपेक्षासे प्रामाण्य हो तब उनका स्वतःप्रामाण्य नष्ट हो जायगा ॥ ८६ ॥

न च सुखदुःखादिसम्बन्धोऽवगत्यात्मनः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्गृह्यते, येन विरोधः प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुद्भाव्यते[1]। कथम् ? शृणु—

दुःखिताऽवगतिश्चेत्स्यान्न प्रमीयेत साऽऽत्मवत्।
कर्मण्येव प्रमा न्याय्या न तु कर्तर्यपि क्वचित् ॥ ८७ ॥

[आत्माका दुःखादिके साथ सम्बन्ध प्रमाणान्तरसे गृहीत होता है, यह मानकर भी उसके साथ विरोध होनेसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका प्रामाण्य नष्ट नहीं होता, ऐसा पूर्वमें कहा गया। अब यह कहते हैं कि—] ज्ञानरूप आत्मामें सुख-दुःखादिका सम्बन्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गृहीत ही नहीं होता, जिससे प्रत्यक्षादिके साथ वेदान्त-वाक्यके विरोधकी शङ्का होती। यदि कहिए कि आत्मामें सुख दुःखादिका सम्बन्ध प्रत्यक्षादिसे कैसे नहीं गृहीत होता ? तो सुनिए—

यदि ज्ञानस्वरूप आत्मामें दुःखादि धर्म हैं, ऐसा मानोगे तब आत्माकी भाँति उनका भी ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि धर्मीके ज्ञानके बिना धर्मका ज्ञान नहीं होता, ऐसा नियम है। धर्मीरूप आत्मा प्रमाका विषय कभी भी नहीं होता। क्योंकि प्रमामात्र ही कर्म अर्थात् ज्ञानसे भिन्न विषयको ग्रहण करता है, कर्तृस्वरूपको ग्रहण नहीं करता। इसलिए कर्मकर्तृविरोध प्रसङ्ग भी हो जायगा ॥ ८७ ॥

अभ्युपगमेऽपि च प्रसङ्ख्यानशतेनाऽपि नैव त्वं सम्भावितदोषान्मुच्यसे। अत आह—

प्रमाणबद्धमूलत्वाद् दुःखित्वं केन वार्यते।
अग्न्युष्णवन्निवृत्तिश्चेन्नैरात्म्यं ह्येति सौगतम् ॥ ८८ ॥

[पहले इस बातका निरूपण किया गया कि प्रमाणोंका विषय भिन्न-भिन्न है, एवं दुःखित्वादि, यदि आत्माके धर्म हैं तो प्रमाणगम्य भी नहीं हो सकते। इसलिए प्रमाणान्तरके साथ विरोध न होनेसे वाक्य प्रसङ्ख्यानविधिपरक नहीं है। अब यह कहते हैं कि—] दुःखादि धर्म आत्मामें प्रमाणसे जाने जाते हैं और उनके साथ विरोध होनेसे वाक्य भी प्रसङ्ख्यानविधिपरक है, ऐसा यदि मान भी लिया जाय तो भी सहस्रों प्रसङ्ख्यानों—ध्यानों अर्थात् उपासनाओंसे भी दुःखरूप संसार-बन्धनसे आत्माका छुटकारा नहीं

1 प्रमाणैरुद्भाव्यते, ऐसा पाठ भी है।

हो सकता। अतः ऐसा मान लेनेसे भी अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग दोषसे आप छूट नहीं सकते हो। इसलिए कहते हैं कि—

आत्मामें दुःखादिसंसार प्रमाणसे ही ज्ञात हुआ है, ऐसा मान लेनेपर दुःख आदि आत्मामें पारमार्थिक ही हैं, ऐसा कहना पड़ेगा। तब उनकी निवृत्ति किसी प्रकारसे नहीं हो सकेगी। जैसे अग्निकी उष्णता अग्निके रहते किसी प्रकार भी निवृत्त नहीं हो सकती। वैसे ही दुःखादि परिणाम परिणामी पदार्थके (आत्माके) अत्यन्त निवृत्त हुए बिना तो कदापि नहीं निवृत्त हो सकेंगे। अतः परिणामी—आत्माकी—भी निवृत्ति होती है, ऐसा मानो तो आत्माकी निवृत्ति हो जानेपर बौद्धाभिमत शून्यवादका प्रसङ्ग हो जाएगा॥ ८८॥

अथ मतम्—

निराकुर्यात्प्रसङ्ख्यानं दुःखित्वं चेत्स्वनुष्ठितम्।
प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वात्कथमुत्पादयेत्प्रमाम् ॥ ८९ ॥

यदि ऐसा कहिए कि 'दुःखादिको आत्माके स्वरूपभूत भी मान लें तो भी उनकी निवृत्ति हो सकती है। क्योंकि ध्यान अच्छे प्रकार करनेसे वह दुःखित्वादिसे विपरीत तत्त्वज्ञानको उत्पन्न करके दुःखादिको दूर कर सकता है?' तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रसङ्ख्यान अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप ध्यान (परिगणित प्रमाणोंके मध्यमें किसी भी प्रमाणके अन्तर्गत नहीं है। फिर भी, यदि इसको प्रमाण मान भी लिया जाय तो भी वह) प्रत्यक्षादि विरोध होनेसे प्रमाका उत्पादन कैसे कर सकेगा?॥८९॥

ननु प्रसङ्ख्यानं नाम तत्त्वमस्यादिशब्दार्थान्वयव्यतिरेकयुक्तिविषयबुद्ध्याऽऽम्रेडनमभिधीयते तच्चानुष्ठीयमानं प्रमितिवर्द्धनया परिपूर्णां प्रमितिं जनयति न पुनरैकाग्र्यवर्धनयेति। यथाऽशेषाशुचिनीडे स्त्रीकुणपे कामिनीति निर्वस्तुकः पुरुषायासमात्रजनितः प्रत्यय इति। तन्न। यतः—

अभ्यासोपचयाद् बुद्धेर्यत्स्यादैकाग्र्यमेव तत्।
न हि प्रमाणान्यभ्यासात्कुर्वन्त्यर्थावबोधनम् ॥ ९० ॥

शङ्का—तत्त्वमस्यादि वेदान्तवाक्यसे प्रतिपाद्य अर्थका पुनः पुनः ज्ञान तथा अन्वयव्यतिरेक युक्तियोंका जो बार-बार ज्ञान है, उसीको 'प्रसंख्यान' कहते हैं। वह प्रसङ्ख्यान दृढ़तर संस्कारों उत्पन्न करता हुआ प्रमितिको बढ़ाकर परिपूर्ण ज्ञानको उत्पन्न करता है, न कि केवल एकाग्रताको बढ़ाकर। जैसे सम्पूर्ण अपवित्रताओंकी खान

स्त्रीशरीरमें केवल पुरुषकी कल्पनामात्रसे आरोपित कामिनी, इस प्रकारका निस्तत्त्व ज्ञान होता है।

समाधान—ऐसा मत कहिए ? क्योंकि—

अभ्यासके बढ़नेसे बुद्धिमें जो कुछ विशेषता उत्पन्न होती है, वह एकाग्रता ही है। क्योंकि प्रमाणोंका अभ्यास करनेपर ही वे प्रमाण अर्थका अवबोधन नहीं करते ॥ ९० ॥

अभ्यासोपचिता कृत्स्नं भावना चेन्निवर्तयेत् ।
नैकान्तिकी निवृत्तिः स्याद् भावनाजं हि तत्फलम् ॥ ९१ ॥

इसपर ऐसी शङ्का होती है कि "अभ्याससे उत्पन्न हुई भावना सम्पूर्ण सांसारिक दुःखोंको दूर कर ब्रह्मरूपत्व प्राप्तिमें कारण है। ऐसा श्रुतिमें लिखा है कि इस लोकमें पुरुष जैसी भावना करता है, मरनेके बाद वह वैसा ही होता है।" इसका समाधान यह है कि श्रुतिमें जो लिखा है वह सत्य ही है। परन्तु वह प्राप्ति आत्यन्तिक नहीं हो सकती। भावना से उत्पन्न होनेके कारण अनित्य हो जाएगी। अतएव भावनाका फल उपास्यका साक्षात्कार होना ही है, न कि ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति। अतएव वाक्य निरर्थक नहीं हुआ ॥ ९१ ॥

अपि चाह—

दुःख्यस्मीत्यपि चेद् ध्वस्ता कल्पकोट्युपबृंहिता ।
स्वल्पीयोऽभ्यासजा[1] स्थास्न्वी भावनेत्यत्र का प्रमा ॥ ९२ ॥

और भी इस विषयमें कहते हैं—

अनादि कालसे, न जाने कितने कोटि कोटि कल्प व्यतीत हो चुके हैं तब से, प्रवृत्त हुई 'मैं सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ' इत्यादि भावना यदि निवृत्तिको प्राप्त हो जाती है, तब फिर अल्पकालके अभ्याससे उत्पन्न हुई यह ब्रह्मभावना चिरस्थायिनी हो जाएगी, इसमें क्या प्रमाण है ? ॥ ९२ ॥

ननु शास्त्रात्स्थास्नुत्वं भविष्यति ? नैवम् । यथावस्थितवस्तुयाथात्म्यावबोधमात्रकारित्वाच्छास्त्रस्य । न हि पदार्थशक्त्याधानकृच्छास्त्रम् । प्रसिद्धं च लोके—

भावनाजं फलं यत्स्याद्यच्च स्यात्कर्मणः फलम् ।
न तत्स्थास्न्विति मन्तव्यं द्रविडेष्विव संगतम्[2] ॥ ९३ ॥

इसपर ऐसी शङ्का उठ सकती है कि "न स पुनरावर्तते—वह उपासक

१—स्वल्पीयाभ्यासजा, ऐसा पाठ भी है।

२—संगतिः, ऐसा पाठ भी मिलता है।

फिर से लौटता नहीं, इत्यादि शास्त्रप्रमाणके बलसे भावनाजनित फल भी नित्य हो सकता है ?" परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि—शास्त्र जैसा पदार्थ है, उसी प्रकार उसके यथार्थ स्वरूपमात्रका बोधन करा देता है, न कि किसी वस्तुमें एक नवीन विलक्षण शक्तिको उत्पन्न कर देता है। और लोगोंमें यह बात भी प्रसिद्ध है कि भावना (सगुणोपासना) तथा कर्मसे जो फल उत्पन्न होता है, उसको द्राविड लोगोंकी मैत्रीके समान स्थिर नहीं मानना चाहिए ॥ ९३ ॥

यद्यपि प्रत्यक्षादिप्रमाणोपात्तमात्मनो दुःखित्वं तथापि तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थप्रत्यय एव बलीयानिति निश्चयोऽव्यभिचारिप्रामाण्यवाक्योपात्तत्त्वात् प्रमेयस्य च स्वत एव निर्दुःखित्वसिद्धेः। प्रत्यक्षादेस्तु सव्यभिचारित्वात् सम्भावनायाश्च पुरुषपरिकल्पनामात्रावष्टम्भत्वाच्चेति।

निर्दुःखित्वं स्वतःसिद्धं प्रत्यक्षादेश्च दुःखिता।
को ह्यात्मानमनादृत्य विश्वसेद्बाह्यमानतः॥ ९४ ॥

[पहले यह कहा गया कि प्रमाणोंका परस्पर विरोध न होनेसे दुःखित्वादि प्रमाणान्तरके योग्य नहीं हैं, इसलिए तत्त्वमस्यादि वाक्य प्रमाणान्तरके साथ विरोध न होनेसे प्रसङ्ख्यानपरक नहीं हैं। अब यह कहते हैं कि दुःखित्वादिको प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध माननेपर भी हानि नहीं, किन्तु तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान ही प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थ का बाधक है—] यद्यपि आत्मामें दुःखआदि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध है, तथापि तत्त्वमस्यादि वाक्यजनित ज्ञान ही बलवान् है, ऐसा निश्चय यथार्थ है। क्योंकि वह निश्चय किसी कालमें अप्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि वह वाक्यसे उत्पन्न हुआ है। और ज्ञानके विषयभूत आत्माकी निर्दुःखिता स्वयम्प्रकाशमान होनेसे सुषुप्तिमें स्वतःसिद्ध है, इसलिए वह बलवान् है। और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें दोषोंकी सम्भावना है। इस प्रकार सम्भावित दोषसे युक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य स्थिर रहता नहीं। इसीलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध आत्मामें दुःख आदि केवल सम्भावनामात्रसे ही सिद्ध हैं, ऐसा कहना पड़ता है और सम्भावना केवल पुरुषकी कल्पनामात्रके जोरसे उत्पन्न होती है।

इसलिए वास्तवमें आत्मामें दुःख आदि नहीं है, किन्तु निर्दुःखत्व ही स्वतःसिद्ध है। दुःख आदि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध हैं। जो स्वयं सिद्ध है वही वास्तव है। तब कौन पुरुष अपने आत्माका अनादर करके बाह्यप्रमाणोंके ऊपर विश्वास करेगा ? ॥ ९४ ॥

सम्बन्धार्थ एव—

अपि प्रत्यक्षबाधेन प्रवृत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
पराश्चि खानीत्येतस्माद् वचसो गम्यते श्रुतेः ॥ ९५ ॥

पूर्वोक्त अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं—

प्रत्यक्षका बाध करके श्रुति प्रत्यगात्माको बोधन करती है, यह बात 'पराञ्चि खानि' इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट सिद्ध होती है। अतएव श्रुतिके सामने प्रत्यक्ष कुछ नहीं है ॥९५॥

अभ्युपगम्यैवमुच्यते न तु प्रमाणं सत्प्रमाणान्तरेण विरुद्धयत इत्यसकृदवोचाम। यत्राऽपि वाक्यप्रत्यक्षयोर्विरोधाशङ्का तत्राऽपि पुरुषमोहवशादेव सा जायते न तु परमार्थत इति। अत आह—

प्रमां चेज्जनयेद्वाक्यं प्रत्यक्षादिविरोधिनीम् ।
गौणीं प्रत्यक्षतां ब्रूयान्मुख्यार्थासम्भवाद् बुधः ॥ ९६ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाणका श्रुतिके साथ विरोध है, ऐसा मान कर उसका परिहार कहा गया। वस्तुतः यदि कोई भी प्रमाण है तो वह प्रमाणान्तरसे विरुद्ध नहीं हो सकता, इस बातको हम बारबार पहले कह चुके हैं। जहाँ भी श्रुति और प्रत्यक्ष इन दोनोंके परस्पर विरोधकी प्रतीति होती है, वहाँपर भी वह प्रतीति पुरुषोंको मोहवशसे ही भासमान होती है। वास्तवमें विरोधकी शङ्का नहीं है। इसलिए कहते हैं—

यदि श्रुतिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, तब विद्वान् पुरुषको कहना चाहिए कि 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह गौण अर्थात् अन्तःकरण गत दुःखादिका ही आत्मामें प्रतिभास हो रहा है। क्योंकि स्वयम्प्रकाश चैतन्यरूप आत्माका दुःखादिरूप परिणाम न होने से 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा ज्ञान यथार्थ कैसे हो सकता है? इसीलिए जीवको ब्रह्मरूप बतलानेवाले 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यसे प्रत्यक्षका कोई विरोध नहीं है ॥ ९६ ॥

तस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थमुदाहरणम्—

अग्निः सम्यगधीतेऽसौ जहासोच्चैश्च मञ्चकः ।
यथा तद्वदहंवृत्त्या लक्ष्यतेऽनर्हयाऽपि सः ॥ ९७ ॥

'मैं दुःखी हूँ' यह ज्ञान गौण है, इस बातको दृष्टान्तके द्वारा स्पष्ट करनेके लिए उदाहरण देते हैं—

यह अग्नि अच्छी तरहसे पढ़ता है, पलङ्ग खूब जोर से हँसा, इत्यादि प्रयोगोंमें जैसे अग्नि और पलङ्ग ये दोनों शब्द क्रमसे पढ़नेवाले विद्यार्थी और बालक या अन्य किसी पुरुषको लक्षणा द्वारा बोधन करते हैं। इसी प्रकार स्वयंप्रकाश चैतन्यका बोधन करनेमें असमर्थ भी यह अहंवृत्ति लक्षणाद्वारा आत्माको ज्ञापन करती है ॥ ९७ ॥

कस्मात्पुनः कारणात्साक्षादेवात्मा नाभिधीयते किमनया कल्पनयेति तत्राह—

त्वमित्येतद् विहायाऽन्यन्न वर्त्माऽऽत्मावबोधने ।
समस्तीह त्वमर्थोऽपि गुणलेशेन वर्तते ॥ ९८ ॥

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि मुख्यवृत्तिसे आत्माको बतलानेवाला कोई शब्द है या नहीं? यदि नहीं है, तब आत्मा लक्ष्य भी कैसे होगा! क्योंकि जो वाच्य होता है वही लक्ष्य भी होता है। अगर मुख्य वृत्तिसे बतलाने वाला शब्द है, तब उसीसे आत्माका कथन कीजिए, इस लक्षणाकी कल्पनासे क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं—

'तू' 'मैं' इत्यादि शब्दोंको छोड़कर आत्माको समझानेके लिए और कोई पद हैं नहीं। वे पद भी गुणवृत्ति या लक्षणावृत्तिसे ही आत्माके बोधक हैं, न कि मुख्यवृत्तिसे। अतएव मुख्यवृत्तिसे बोधन करनेवाला कोई पद है नहीं। तो भी, वह किसी पदका लक्ष्य नहीं है, इससे कोई दोष नहीं होता। क्योंकि वाच्यत्व लक्ष्यत्वका प्रयोजक नहीं है। मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध होने ही से वह लक्ष्य हो जाएगा, ऐसा कहीं देखनेमें नहीं आया कि मुख्यार्थ सम्बन्ध तो है, परन्तु वाच्यत्व नहीं है, इसलिए वह लक्ष्य नहीं हुआ। शुद्ध आत्मामें जाति, गुण, क्रियादिके न रहनेसे और श्रुतिने वाच्यत्वका निषेध भी किया है इसलिए उसमें, वाच्यत्व नहीं है। तो भी वाच्यार्थ जो प्रमाता है, उसके साथ सम्बन्ध है। इसलिए 'त्वम्' 'अहम्' इत्यादि शब्दोंसे, गुण सम्बन्धद्वारा आत्मा लक्षित होता है ॥ ९८ ॥

कस्मात्पुनर्हेतोर्ह्यहमित्येतदपि गुणलेशेन वर्तते न पुनः साक्षादेवेति। विधूतसर्वकल्पनाकारणस्वाभाव्यादात्मनः। अत आह—

व्योम्नि धूमतुषाराभ्रमलिनानीव दुर्धियः।
कल्पयेयुस्तथा मूढाः संसारं प्रत्यगात्मनि ॥ ९९ ॥

यदि कोई कहे कि 'तू' 'मैं' इत्यादि शब्द यदि प्रत्यगात्माके बोधक हैं, तब क्या कारण है कि इन शब्दोंसे आत्माका साक्षात् बोध नहीं होता, किन्तु गुणवृत्तिसे होता है? तो इसका उत्तर यह है कि वाच्य, वाचक इत्यादि कल्पनाओंका कारण गुण, क्रिया किंवा जाति, कोई भी आत्मामें वास्तवमें नहीं है। इसी कारण साक्षात् किसी शब्दसे उसका प्रतिपादन न होकर लक्षणा आदिसे मानना पड़ता है। इसी बातको पुष्टि करनेके लिए कहते हैं—

जैसे अविवेकी पुरुष निर्मल आकाशमें धूम, तुषार अथवा मेघमालिन्य आदिकी कल्पना करते हैं। वैसे ही मूढ़ लोग शुद्ध प्रत्यक् आत्मामें संसारकी कल्पना करते हैं ॥ ९९ ॥

ननु[1] सर्वकल्पनानामप्यात्मन्यत्यन्ताऽसम्भवे समानेऽहंवृत्तौ कः पक्षपाते हेतुर्येन वृत्त्यन्तराणि विधूयाऽहंवृत्त्यैवात्मोपलक्ष्यत इति। उच्यते—

चिन्निभेयमहंवृत्तिः प्रतीचीवात्मनोऽन्यतः।
पूर्वोक्तेभ्यश्च हेतुभ्यस्तस्मादात्माऽनयोच्यते[2] ॥ १०० ॥
वृत्तिभिर्युष्मदर्थाभिर्लक्ष्यतेचेद्दृशिः परः।
अनात्मत्वं भवेत्तस्य वितथं च वचः श्रुतेः ॥ १०१ ॥

शङ्का—अहंवृत्तिके सभी पदार्थ—घट, पट, शरीरादि—अधिष्ठान आत्मामें कल्पित हैं। इसमें कोई विशेष तो है नहीं। फिर वृत्त्यन्तरको छोड़कर केवल अहंवृत्तिमें ही आपका क्यों इतना आग्रह है, जो कि इसी वृत्तिसे लक्षणाद्वारा आत्माकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हो?

समाधान—अहंवृत्ति चैतन्यप्रतिबिम्बको धारणकर बिलकुल चित्रूप हो गई है, इसीलिए आत्मासे अन्य देहादिकी अपेक्षा यह (अहंवृत्ति) प्रत्यग्भूत (आन्तर) है अतएव पूर्वोक्त कारणोंसे भी इसीसे आत्माकी लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है और घटादि वृत्ति द्वारा तथा घटादि शब्दोंसे आत्माकी प्रतीति लक्षणासे होगी, ऐसा माननेपर घटादिके समान आत्माकी अनात्मरूपसे प्रतीति होने लगेगी और ब्रह्मरूपसे प्रतीति नहीं होगी। तब 'अहं ब्रह्माऽस्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि एकत्व-प्रतिपादक वाक्यों-का वैयर्थ्य और अप्रामाण्य हो जाएगा ॥ १००,१०१ ॥

यथोक्तेन—

अनेन गुणलेशेन ह्यत्यहंकर्तृकर्मया।
लक्ष्यतेऽसावहंवृत्त्या नाञ्जसाऽत्राभिधीयते[3] ॥ १०२ ॥

अतएव पूर्वोक्त—गुणलेशके सम्बन्धसे अहङ्कार, कर्ता (प्रमाता) उसके कर्म-देह, घटादिको अतिक्रम करके रहनेवाली जो कूटस्थ चैतन्यरूपा अहंवृत्ति है, उसीसे

१—सर्वविकल्पकल्पनानां, पाठ भी मिलता है।

२—आत्मा तयोच्यते, ऐसा पाठ भी मिलता है।

३—नाञ्जसात्राभिधायकः, ऐसा पाठ भी मिलता है।

आत्माका प्रतिपादन होता है, साक्षात् नहीं। क्योंकि आत्माका साक्षात् अभिधा शक्तिके द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता ॥ १०२ ॥

नाऽञ्जसाऽऽत्माऽभिधीयते, इति को हेतुरिति चेत् ?

षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः ।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनाऽऽत्मा नाभिधीयते ॥१०३॥

शङ्का—साक्षात् शब्दसे आत्माका प्रतिपादन नहीं होता (किन्तु लक्षण द्वारा होता है) इसमें क्या कारण है ?

समाधान—लोकमें सर्वत्र शब्द किसी वस्तुमें सम्बन्ध, गुण, क्रिया, जाति अथवा रूढि, इनमेंसे किसीके रहनेसे प्रवृत्त होता है। आत्मामें इनमें से एक भी नहीं है, क्योंकि आत्मा असङ्ग, निर्गुण, निष्क्रिय, जातिरहित और सम्बन्धसे शून्य है; इसी कारण किसी शब्दसे आत्मा साक्षात् नहीं कहा जा सकता है ॥ १०३ ॥

यदि शब्दोऽभिधानाऽभिधेयत्वसम्बन्धाङ्गीकारेण नात्मनि वर्तते, कथं शब्दादहं ब्रह्मास्मीति सम्यग्बोधोत्पत्तिः ? उच्यते—

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते ।
आत्मत्वकारणाद् विद्मो[1] गुणवृत्त्या विबोधिताः ॥१०४॥

इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई भी शब्द वाच्य-वाचकभाव सम्बन्धको अङ्गीकार करके आत्मामें प्रवृत्त नहीं होता, तब फिर 'अहं ब्रह्माऽस्मि' ऐसा ज्ञान वाक्यसे कैसे होगा ? इसका समाधान यह है कि—

आरोपित मार्गमें स्थित होकर (अर्थात् शबलात्माके वाचक शब्दादिसे ही) निरुपाय अर्थात् साक्षात् उपायरहित आत्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है। जैसे शाखाग्रसे चन्द्रमाका ज्ञान या रेखाओंसे सत्यवर्णोंका ज्ञान होता है। और सभीका आत्मा स्वप्रकाश है, इसलिए लक्षणावृत्तिसे ही उसका बोध हो जाता है ॥ १०४ ॥

कथं पुनरभिधानमभिधेयेनाऽनभिसम्बद्धं सदनभिधेयेऽर्थे प्रमां जनयतीति। शृणु यथाऽनभिसम्बद्धमप्यनभिधेयेऽर्थेऽविद्यानिराकरणमुखेन बोधयतीत्याह—

शयानाः प्रायशो लोके बोध्यमानाः स्वनामभिः ।
सहसैव प्रबुद्ध्यन्ते यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥ १०५ ॥

उपायमात्र उपेयके साथ सत्य सम्बन्ध रहित होनेपर भी बोधक हो सके, परन्तु

१—कारणात्सिद्धा, ऐसा पाठ भी मिलता है।

शब्द अपने अर्थके साथ सम्बद्ध न हो तो वह किस प्रकारसे अनभिधेय अर्थका यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करेगा ? ऐसी शङ्का यदि कोई करे तो उसका समाधान यह है कि जिस प्रकार शब्द प्रकृतमें असम्बद्ध होनेपर भी अनभिधेय अर्थका बोधक होता है और अविद्याका निवारक भी होता है। यही बात कहते हैं—जैसे निद्रित पुरुष 'हे देवदत्त उठो, जागो !' ऐसे पुकारनेपर, उस नामसे पुकार हुई है, इसलिए जाग जाता है। ऐसे ही तत्त्वमस्यादि वेदान्तवाक्योंसे भी अविद्यानिद्रामें निमग्न पुरुष शब्दके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध-ज्ञान न होनेपर भी प्रबुद्ध हो जाता है ॥ १०५ ॥

[यद्यपि निद्रावस्थामें पुरुषको अपने नामका अपने साथ सम्बन्ध गृहीत नहीं है, तथापि पहले तो सम्बन्ध-ज्ञान था, उसीसे उस समय भी बोध हो जाता है, ऐसी शङ्का यदि कोई करे, तो उसका उत्तर यह है—]

न हि नाम्नाऽस्ति सम्बन्धो व्युत्थितस्य शरीरतः ।
तथापि बुद्धयते तेन[1] यथैवं तत्त्वमित्यतः ॥ १०६ ॥

शरीरसे अलग हुआ अर्थात् देह इन्द्रियादिके अभिमानसे रहित—सोया हुआ पुरुष मेरा यह नाम है और नामके साथ मेरा सम्बन्ध है, ऐसा नहीं जानता। क्योंकि उस कालमें शब्दका श्रवण और सम्बन्धका स्मरण, दोनों नहीं हैं ; यदि ये दोनों तथा शरीर-सम्बन्ध है, ऐसा मानो तब अन्योन्याश्रय दोष होगा। शरीर सम्बन्ध होनेसे प्रतिबोध और प्रतिबोध होनेसे शरीरसम्बन्ध, अथवा प्रतिबोध होनेसे श्रवण, और श्रवण होनेसे प्रतिबोध। अतएव मानना पड़ेगा कि स्मरण हुए बिना ही नामको सुषुप्तिअवस्थामें बोधन करानेकी शक्ति है। इसलिए वाचक शब्दको वाच्य अर्थमें ही सम्बन्धज्ञानकी अपेक्षा है; लक्ष्यमें नहीं। क्योंकि गङ्गाशब्दका प्रवाहमें सम्बन्ध-ज्ञान रहनेपर भी तीरमें सम्बन्धज्ञान बिना ही बोधकत्व दीख पड़ता है। ऐसे ही अनात्म-मिश्रित शबलमें गृहीत-सम्बन्ध तत्त्वमस्यादि वाक्योंको लक्षणासे अखण्ड ब्रह्मका बोध करानेमें कोई बाधा नहीं है ॥ १०६ ॥

यथा च—

बोधाऽबोधौ नभोऽस्पृष्ट्वा कृष्णधीनीडगौ यथा ।
बाध्येतरात्मकौ स्यातां तथेहात्मनि गम्यताम् ॥ १०७ ॥

इस पर ऐसी शङ्का होती है कि 'अच्छा, शब्दसे पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार आत्मज्ञान हो, तो भी आत्मा ज्ञान और अज्ञान दोनोंका आश्रय होनेसे विकारी बन जायगा ? इस आशङ्काको दृष्टान्तके द्वारा दूर करते हैं—

जैसे आकाश अमूर्त होनेसे नीरूप है, इस प्रकारके यथार्थज्ञान और यह

१—बुध्यते येन, ऐसा पाठ भी है।

चूँकि अविद्याकी प्रतीति प्रत्यक्षरूपसे अज्ञ लोगोंको हो रही है, इसी कारण अविद्याकी कल्पना की गई है। इसलिए आत्माके स्वरूपको देखकर उसके अनुरोधसे यह सिद्ध होता है कि आत्मामें अविद्याकी सम्भावना भी किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि, जिस आत्माका स्वाभाविक स्वरूप क्रिया और कारकसे रहित ज्ञान ही है। वहाँपर अविद्याकी सम्भावना भी किस कारणसे होगी ? ॥ ११२ ॥

सोऽयमेवमनुदिताऽनस्तमितावगतिमात्रशरीर आत्मापि सन्नविचारितप्रसिद्धाऽविद्यामात्रव्यवहित एवाऽतथैवेक्ष्यते यतोऽतः—

अनुमानादयं भावाद्व्यावृत्तोऽभावमाश्रितः।
ततोऽप्यस्य निवृत्तिः स्याद्वाक्यादेव बुभुत्सतः ॥११३॥

क्योंकि उत्पत्ति विनाश रहित ज्ञानमात्रस्वरूप होकर भी आत्मा अविवेकके वशवर्त्ती अज्ञ जनोंके कल्पनामात्रसे सिद्ध अविद्यारूपी आवरणसे विपरीत-सा दीख पड़ता है। इसी कारण पहले आत्मरूपसे गृहीत देह इन्द्रियात्मक भावपदार्थोंसे आत्माको अनुमानकी सहायतासे पृथक् समझना चाहिए कि यह आत्मा देहादिरूप नहीं है। ऐसे पृथक् रूपसे ज्ञात हुआ यह आत्मा अभावरूप हुआ-सा भासमान हो रहा है। अतएव देहादिसे पृथक्कृत आत्मामें 'मैं कौन हूँ' ऐसा उत्कट जिज्ञासावाले पुरुषको वेदान्तवाक्यसे ही ब्रह्मरूपताकी दृढ़ प्रतीति हो जानेसे अभावसे भी व्यावृत्ति अर्थात् पार्थक्य हो जाता है। तब अविद्याकी भी निवृत्ति हो जाती है ॥ ११३ ॥

भाववदभावादपि निवृत्तिरनुमानादेव किमिति न भवतीति चेच्छृणु—

न व्यावृत्तिर्यथा भावाद्भावेनैवाऽविशेषतः[1]।
अभावादप्यभावत्वाद्[2] व्यावृत्तिर्न तथेष्यते ॥ ११४ ॥

शङ्का—देहादि भाव पदार्थोंसे व्यावृत्ति जैसे अनुमानसे सिद्ध होती है। वैसे ही अभावसे भी व्यावृत्ति अनुमानसे ही क्यों नहीं होती ?

समाधान—सुनिए, देहेन्द्रियादि भाव पदार्थसे आत्माकी व्यावृत्ति जैसे भावत्वके कारण नहीं होती, कारण दोनों भावरूप तुल्य हैं। किन्तु पूर्वोक्त चतुर्विध अन्वय व्यतिरेकरूप अनुमानसे ही होती है। ऐसे ही अभावरूपतासे भी व्यावृत्ति अनुमानसे निश्चित नहीं होती, क्योंकि अभावत्व निश्चित है। इसलिए भाव और अभावसे विलक्षण ब्रह्मरूपत्व प्रतिपादक वाक्यसे ही अभावसे व्यावृत्ति प्रतीत होती है ॥ ११४ ॥

१—अवशेषतः, ऐसा भी पाठ है।

२—अन्यभावत्वात्, ऐसा भी पाठ है।

यतो नाऽनुमानेन व्याविद्धाऽशेषक्रियाकारकफलात्मनि स्वाराज्येऽभिषेक्तुं शक्यते तस्मात्—

अविद्यानिद्रया[1] सोऽयं प्रसुप्तो दुर्विवेकया ।
भावाऽभावव्युदासिन्या श्रुत्यैव प्रतिबोध्यते ॥ ११५ ॥

चूँकि अनुमानके बलसे सम्पूर्ण क्रिया, कारक और फलसे रहित, शुद्ध ब्रह्मरूप स्वाराज्यमें अभिषिक्त नहीं कर सकते, इसलिए—

प्रमाणान्तरसे निवृत्त नहीं होनेवाली इस अविद्यारूप निद्रामें सोया हुआ यह पुरुष भाव और अभावको दूर करनेवाली श्रुतिसे ही जगाया जाता है ॥ ११५ ॥

अत्राऽऽह, अनुदिताऽनस्तमितविज्ञानात्ममात्रस्वरूपत्वाद् दुःसम्भाव्याऽविद्येति । नैतदेवम् । कुतः ? यत आह—

कुतोऽविद्येति चोद्यं स्यान्नैवं प्राग्वेत्त्वभवात् ।
कालत्रयाऽपरिच्छित्तेर्न चोर्ध्वं चोद्यसंभवः ॥ ११६ ॥

उत्पत्ति और विनाशसे रहित ज्ञानस्वरूप आत्मामें अविद्याका कैसे संभव हो सकता है ? ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए, क्योंकि—

क्या विद्याके पूर्व अविद्याका होना सम्भावित समझते हैं, या विद्याके अनन्तर ? यदि कहिए कि विद्याके पूर्व अविद्याकी सम्भावना नहीं, तो यह ठीक नहीं । कारण, आत्मा ज्ञानरूप है, ऐसा ज्ञान ही जब नहीं उदय हुआ, तब यह शङ्का कैसे हो सकेगी ? यदि ज्ञान होनेके बाद शङ्का करो, तब तो आत्मामें कालत्रयमें भी अविद्या नहीं है, ऐसा बोध जब हो गया, तब ऐसी शङ्का किस तरहसे हो सकती है ? ॥ ११६ ॥

यस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यमेवात्मनोऽशेषामविद्यां निरन्वयामपनुदति । तस्मात्—

अद्धातममनादृत्य प्रमाणं सदसीति ये ।
[2]बुभुत्सन्तेऽन्यतः कुर्युस्तेऽक्ष्णापि रसवेदनम् ॥ ११७ ॥

चूँकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य ही आत्माकी समस्त अविद्याको, जिसका कि आत्मासे किसी प्रकार भी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, दूर हटा देता है । इसलिए—

जो लोग साक्षात् आत्मतत्त्वके ज्ञान करानेमें समर्थ, सुनिश्चित प्रमाण—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यका अनादर करके अन्य प्रसङ्ख्यानादि (ध्यान, उपासना आदि) के

१—अनिद्रो निद्रया, ऐसा भी पाठ है ।

२—बुभुत्सन्तः, ऐसा पाठ भी है ।

द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे लोग तो नेत्र इन्द्रियके द्वारा रसज्ञानका अनुभव कर सकते हैं ! ॥ ११७ ॥

एवमप्रतिहतामहं ब्रह्मेति प्रमां तत्त्वमस्यादिवाक्यं कुर्वदपि न प्रतिपादयतीति चेदभिमतं न कुतश्चनापि प्रतिपत्तिः स्यादत आह—

इदं चेदनृतं ब्रूयात्सत्यामवगतावपि ।
न चाऽन्यत्राऽपि[1] विश्वासो ह्यवगत्यविशेषतः ॥११८॥

इस प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्यसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका प्रमात्मक अबाधित ज्ञान यदि हो रहा है, तब यह वाक्य एतादृश वस्तुका प्रतिपादन नहीं करता, ऐसा ही आपको अभीष्ट हो तब तो किसीसे भी ऐसी अवगति (ज्ञान) नहीं होगी, इसलिए कहते हैं—

'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे पूर्वोक्त निश्चितरूपसे ज्ञान होनेपर भी यदि कोई यह असत्य है, अप्रमाण है, ऐसा कहेगा, उस पुरुषको ज्ञान होनेपर भी विशेषता न रहनेसे अन्यत्र भी, सम्पूर्ण वेदमें कहीं भी, विश्वास नहीं रहेगा ॥ ११८ ॥

न चोपादित्सिताद् वाक्यार्थाद् वाक्यार्थान्तरं कल्पयितुं युक्तम्। यस्मात्—

न चेदनुभवोऽतः स्यात्पदार्थावगतावपि ।
कल्प्यं विध्यन्तरं तत्र न ह्यन्योऽर्थोऽवगम्यते ॥ ११९ ॥

इसपर यदि कोई ऐसा कहे कि 'हम वेदान्तोंको अप्रमाण नहीं कहते, किन्तु वेदान्त उपासना विधिपरक हैं ऐसा कहते हैं' तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है । क्योंकि—

यदि तत् त्वं पदार्थके जाननेवालेको वाक्यश्रवणसे वाक्यार्थका ज्ञान न होता, तब विधिपरत्वकी कल्पना उचित थी, वह बात तो है नहीं । क्योंकि अधिकारी पुरुषको वाक्यसे ज्ञान होता हुआ अनुभवसे देख पड़ता है । और पूर्वोक्त रीतिसे मुख्य अर्थ संभव हो तो विधिकी कल्पना कर भी नहीं सकते । इसलिए विधिपरतया प्रामाण्य नहीं कह सकते । और 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य जिस प्रकरणमें पठित हैं, उसमें कोई विधि श्रुत भी नहीं है ॥ ११९ ॥

न च यथाऽभिमतोऽर्थो यथोक्तेन न्यायेन नावसीयते । कोऽसौ न्याय इत्याह—

नामादिभ्यो निराकृत्य त्वमर्थं निष्परिग्रहः ।
निःस्पृहो युष्मदर्थेभ्यः शमादिविधिचोदितः ॥ १२० ॥

1—न चान्यत्रापि वाक्ये स्याद्विश्वासो ह्यविशेषतः; ऐसा भी पाठ है ।

और यह भी नहीं कह सकते कि जैसा हमको अभीष्ट है, वैसा अर्थ कहे हुए न्यायसे प्रतीत नहीं होता। वह न्याय कौनसा है ? यह कहते हैं—

छान्दोग्य उपनिषद्‌में दिखाये हुए नामसे लेकर प्राणपर्यन्त पदार्थोंसे आत्माको पृथक् समझकर 'अहम्' 'मम' इस प्रकारके अभिमानके परित्यागसे क्षेत्र, पुत्रादि परिग्रहोंसे रहित युष्मदर्थ अनात्म प्रपञ्चसे निःस्पृह अर्थात् उसके उपभोग करनेकी तृष्णासे रहित, शमदमादि साधन चतुष्टयसे सम्पन्न होकर— ॥ १२० ॥

भङ्क्त्वा चान्नमयादींस्तान् पञ्चानात्मतयाऽर्गलान् ।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं वेत्ति चेन्नार्थ ईहया ॥ १२१ ॥

तैत्तिरीयक उपनिषद्‌में प्रतिपादित अन्नमयादि पाँच कोशोंमें 'अहम्' 'मम' अभिमानका परित्याग करके स्वरूपप्राप्तिमें प्रतिबन्धक जितने हैं, उन सभीका क्षय करके यदि पुरुष ब्रह्मस्वरूपताका लाभ कर सकता है, तो उपासनादि व्यापारसे क्या प्रयोजन है ?

न चेदेवमुपगम्यते वाक्यस्य प्रमाणस्य सतोऽप्रामाण्यं प्राप्नोति । तदाह—

यदर्थं च प्रवृत्तं यद् वाक्यं तत्र न चेच्छ्रुतम् ।
प्रमामुत्पादयेत्तस्य प्रामाण्यं केन हेतुना ॥ १२२ ॥

इस प्रकार अधिकारी पुरुषको वेदान्तसे यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, यह बात पहले कही। यदि वादी इस बातको न माने तब वेदान्तवाक्योंमें अप्रामाण्यरूप दोषकी प्रसक्ति हो जायगी ? यही कहते हैं—

जिस बातको समझानेके लिए जो वाक्य प्रवृत्त हुआ है, उस वाक्यके श्रवणसे उस अर्थकी प्रतीति यदि न उत्पन्न हो, तब उसका प्रमाण किस तरहसे मान सकते हैं ॥१२२॥

अथ मन्यसे—

जानीयाच्चेत्प्रसङ्ख्यानाच्छब्दः सत्यवचाः कथम् ।
पारोक्ष्यं शब्दो नः प्राह प्रसङ्ख्यानात्त्वसंशयम् ॥ १२३ ॥

हाँ, यदि ऐसा आपका अभिप्राय है कि "अधिकारी पुरुषको जो ज्ञान होता है, वह वेदान्त विहित ध्यानबलसे ही होता है" तब वेदान्तोंका तात्पर्य ध्यानके विधान करनेमें ही है, ऐसा मानना पड़ेगा ? अद्वितीय वस्तुमें तात्पर्य तो है नहीं फिर प्रत्यक्षादि विरुद्ध अद्वितीय वस्तुमें वेदान्त प्रमाण कैसे हो सकता है ? उसको अप्रमाण कहना पड़ेगा। यदि कहिए कि "नहीं, हम लोगोंको शब्दसे तो परोक्ष ही ब्रह्मका बोध होता है, शब्द और युक्तिका अभ्यासरूप—ध्यानसे असन्दिग्ध ब्रह्मरूपताका साक्षात् ज्ञान होता है ?" तो इसका उत्तर देते हैं—

न च युक्तिशब्दावृत्तिलक्षणात्प्रसङ्ख्यानाद्यथावत्प्रतिपत्तिर्भविष्यतीति सम्भावयामः । यस्मात्—

युक्तिशब्दौ पुराऽप्यस्य न चेदकुरुतां प्रमाम् ।
साक्षादावर्त्तनात्ताभ्यां किमपूर्वं फलिष्यति ॥ १२४ ॥

शब्द और युक्तिका पुनः पुनः चिन्तन करना, इस प्रकारके ध्यानसे ठीक ठीक साक्षात्कार होगा, ऐसी सम्भावना हम नहीं करते हैं। क्योंकि—

इस अधिकारी पुरुषको जब पहलेसे ही युक्ति और शब्द, इन दोनोंने अपरोक्ष प्रमा (यथार्थ ज्ञान) उत्पन्न नहीं की तब पीछेसे अभ्यासके बलसे उन्हीं दोनोंसे नया ज्ञान क्या उत्पन्न हो सकता है ? ॥ १२४ ॥

अथैवमपि प्रसङ्ख्यानमन्तरेण प्राणान् धारयितुं न शक्नोषीति[1] चेच्छ्रवणादावेव सम्पादयिष्यामः । कथम् ?—

प्रसङ्ख्यानं[2] श्रुतावस्य न्यायोऽस्त्वाम्रेडनात्मकः ।
ईषच्छ्रुतं सामिश्रुतं सम्यक्श्रुत्वाऽवगच्छति ॥ १२५ ॥

और इसपर भी यदि आप ऐसा कहो कि "सूत्रकारने ही शब्द और युक्तिका अभ्यास करना चाहिए, इस प्रकारसे प्रसङ्ख्यानको स्वीकार किया है। इसीलिए उसके बिना वाक्य किस प्रकारसे बोधक होगा ?" तो यह ठीक नहीं ! सूत्रकारका तात्पर्य यह है कि जीवको ब्रह्मस्वरूप जाननेमें साधनीभूत श्रवण, मननादिकी ही आवृत्ति करनी चाहिए। न कि श्रवणादि उपायोंसे साध्य जो ज्ञान है उसमें उस आवृत्तिका उपयोग करना चाहिए। आत्माके श्रवणमें प्रसङ्ख्यान अर्थात् आवृत्तिका उपयोग है। अतएव सूत्रकारके कहे हुए अभ्यासन्यायका भी यही तात्पर्य है। क्योंकि आपातसे श्रुत अथवा अर्धश्रुत अर्थका अच्छी तरहसे श्रवण करके ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥

ननु प्रसङ्ख्यानविधिमनभ्युपगच्छतः पारमहंसी चर्या बौद्धादिचर्यावदशास्त्रपूर्विका प्राप्नोति । ततश्चारूढपतितत्वं न स्यात् अशेषकर्मणां च निवृत्तिर्न प्राप्नोतीति । उच्यते—

त्वमर्थस्याऽवबोधाय विधिरप्याश्रितो यतः ।
तमन्तरेण ये दोषास्तेऽपि नायान्त्यहेतवः ॥ १२६ ॥

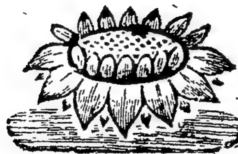
१—न शक्नोमि, ऐसा पाठ भी है।

२—प्रसंख्यानं, ऐसा और प्रसंख्यानश्रुता० ऐसा पाठ भी है।

शङ्का—मुमुक्षुकी नित्य और नैमित्तिक विधिसे बोधित कर्मोंमें प्रवृत्ति तो आपको इष्ट नहीं है। और प्रसङ्ख्यानकी विधि भी आप नहीं मानते। तब तो किसी तरह से भी शास्त्रीय प्रवृत्ति नहीं है। अतः पाखण्डोंकी तरह परमहंस चर्या भी निर्मूल ही प्रतीत होती है। तब सकल श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध आरूढपतितत्व भी नहीं होगा। अथवा विधिबोधित सकल कर्मके परित्याग से आरूढपतित्व हो जाएगा और प्रसङ्ख्यानकी विधि नहीं मानोगे तो नित्य-नैमित्तिक कर्मोंकी निवृत्ति नहीं सिद्ध होगी? प्रसङ्ख्यानकी विधि यदि मानते हो, तब तो सर्वदा अनन्यचित होकर ज्ञानाभ्यासमें प्रवृत्त होनेसे तद्विरुद्ध कर्मोंकी निवृत्ति होती है। यदि उसकी विधि नहीं मानते हो तब 'यावज्जीव' इत्यादि श्रुतियोंसे जो यावज्जीवन कर्म करनेके लिए कहा है, उसीका अनुसरण करना पड़ेगा। तब फिर सर्वकर्म-संन्यासका अवसर ही नहीं है?'

समाधान—'त्वं' पदार्थके विवेकके लिए श्रवणादिकी विधि मानी है और तदङ्गतया सर्व-कर्मोंका संन्यास श्रुति और स्मृतिमें विहित है। अतएव अशास्त्रीयत्वादि दोषकी प्रसक्ति नहीं हो सकती है॥ १२६॥

इति श्रीमत्पूज्यपाद श्री श्रीसुरेश्वराचार्यकृत नैष्कर्म्यसिद्धिके तृतीयाध्यायका भाषानुवाद समाप्त हुआ॥



॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

नैष्कर्म्यसिद्धौ चतुर्थोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

पूर्वाध्यायेषु यद् वस्तु विस्तरेणोदितं स्फुटम् ।
सङ्क्षेपतोऽधुना वक्ष्ये तदेव सुखवित्तये ॥१॥

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्यायोंमें जिस वस्तुका विस्तार पूर्वक वर्णन किया, उसीको सुखपूर्वक—अनायाससे—जानने के लिए अब संक्षेपसे इस (चतुर्थ) अध्यायमें स्पष्ट वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

सङ्क्षेपविस्तराभ्यां हि मन्दोत्तमधियां नृणाम् ।
वस्तूच्यमानमेत्यन्तःकरणं तेन भण्यते ॥ २ ॥

(कही हुई बातों को फिर से क्यों कहते हो, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए ।) क्योंकि संक्षेप और विस्तार, दोनों तरहसे वस्तुतत्त्वका निरूपण करनेसे मन्द, मध्यम, उत्तम—सभी प्रकारके लोगोंके अन्तःकरणमें वह विषय स्थिर हो जाता है ॥ २ ॥

आत्माऽनात्मा च लोकेऽस्मिन् प्रत्यक्षादिप्रमाणतः ।
सिद्धस्तयोरनात्मा तु सर्वत्रैवात्मपूर्वकः ॥ ३ ॥

इस जगत्में आत्मा और अनात्मा ये दोनों प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध हैं। परन्तु उनमें अनात्मा सर्वकालमें आत्मासे ही सिद्ध है। क्योंकि द्रष्टाके विना दृश्यकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३ ॥

अनात्मत्वं स्वतःसिद्धं देहाद्भिन्नस्य वस्तुनः ।
ज्ञातुरप्यात्मता तद्वन्मध्ये संशयदर्शनम् ॥ ४ ॥

देहसे भिन्न घटादि दृश्य तो अनात्मरूपसे और ज्ञाता आत्मरूपसे स्वतः ही सिद्ध हैं। किन्तु घटादि विषय और प्रत्यगात्मा, इनके मध्यमें वर्तमान शरीर, इन्द्रियादिमें कौनसा आत्मा है, ऐसा वादियोंके विवादसे संशय होता है ॥ ४ ॥

असाधारणांस्तयोर्धर्मान् ज्ञात्वा धूमाग्निवद् बुधः ।
अनात्मनोऽथ बुद्ध्यन्तान् जानीयादनुमानतः ॥ ५ ॥

आत्माके असाधारण धर्म द्रष्टृत्वादि और अनात्माके दृश्यत्व, जडत्वादि धर्मों को पृथक्-पृथक् जान कर पण्डितको—जैसे धूमको देख कर अग्निका निर्णय होता है, वैसे ही—देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त पदार्थोंका अनात्मत्व अनुमानसे निश्चित कर लेना चाहिए ॥ ५ ॥

इदमित्येव बाह्येऽर्थे ह्यहमित्येव बोद्धरि।
द्वयं दृष्टं यतो देहे तेनाऽयं मुह्यते जनः ॥ ६ ॥

घटादि बाह्य विषयोंमें 'इदम्' ऐसी बुद्धि होती है। ज्ञाताका ज्ञान 'अहम्' (मैं) इस प्रकारसे होता है। शरीरमें—'मेरा यह शरीर है' 'मैं मनुष्य हूँ' इस तरहसे दोनों प्रकारका ज्ञान उपलब्ध हो रहा है। इसी कारण लोगोंको संशय होता है॥ ६ ॥

केन पुनर्न्यायेनात्मानात्मनोरश्वमहिषयोरिव विभागः क्रियत इति? उच्यते—

न्यायः पुरोदितोऽस्माभिरात्मानात्मविभागकृत्।
तेनेदमर्थमुत्सार्य ह्यहमित्यत्र यो भवेत् ॥ ७ ॥

किन युक्तियोंसे अश्व और महिषके तुल्य आत्मा और अनात्माका विवेक सिद्ध होता है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—

आत्मा और अनात्माके विवेकको दिखलानेवाली युक्तियाँ पूर्वाध्यायोंमें कही गई हैं। उन्हींके अनुशीलनसे सन्दिग्ध अहङ्कारमें जो 'इदम्' अंश है, उसको दृश्यत्वादि हेतुओंसे अनात्मा समझकर जो अवशिष्ट अंश है—॥ ७ ॥

विद्यात्तत्त्वमसीत्यस्माद्भावाभावदृशं सदा।
अनन्तरमबाह्यार्थं प्रत्यक्स्थं[1] मुनिरञ्जसा ॥ ८ ॥

उसीको मननशील पुरुष अनायाससे 'तत्त्वमसि' वाक्यसे वृत्तियोंके भावाभावका प्रकाशक, बाह्याभ्यन्तरशून्य, सर्वान्तर, साक्षिस्वरूप जाने॥ ८ ॥

उच्यतां तर्हि कया तु परिपाट्या वाक्यार्थं वेत्तीति? उच्यते। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्।

त्यक्तकृत्स्नेदमर्थत्वात् त्यक्तोऽहमिति मन्यते।
नाऽवगच्छाम्यहं यस्मान्निजात्मानमनात्मनः ॥ ९ ॥

तब कहिए किस क्रमसे वाक्यार्थका ज्ञान होता है? कहते हैं—प्रथम अन्वय व्यतिरेक द्वारा सम्पूर्ण इदमर्थको अनात्मा समझ कर त्याग देनेके कारण मुमुक्षु आत्माका भी परित्याग हो गया है, ऐसा मान लेता है। क्योंकि अनात्मासे पृथक् करके अपने आत्माको मैं नहीं जानता हूँ, अतएव मैं नष्ट हो गया हूँ, ऐसा मान लेता है॥९॥

अथ शरीरादिबुद्धिपर्यन्तः स सर्वोऽनात्मैवेति प्रमाणाद् विनिश्चित्य किमिति बुभुत्सातो नोपरमते? शृणु—

1—प्रत्यञ्चं, ऐसा पाठ भी है।

अनुच्छिन्नबुभुत्सश्च प्रत्यग्घेतोरनात्मनः ।
दोलायमानचित्तोऽयं मुह्यते भौतवन्नरः ॥ १० ॥

शङ्का—शरीरसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सब पदार्थ अनात्मा हैं, ऐसा प्रमाणसे निश्चित होनेके बाद भी मुमुक्षु क्यों जिज्ञासासे विरत नहीं होता ?

समाधान—सुनिए—

अहङ्कारादिमें भी प्रत्यक्त्व प्रतीत होता है, इसलिए यह पुरुष भ्रान्तपुरुषकी (भूतसे उपगृहीत पुरुषकी) भाँति सन्दिग्ध चित्त होकर जिज्ञासु बना रहता है ॥ १० ॥

अलुप्तविज्ञानात्मन आत्मत्वादेव नित्यसान्निध्याद् बुभुत्सुः किमिति न प्रतिपद्यत इति ? यस्मात्—

यैरद्राक्षीत्पुरात्मानं यमनात्मेति वीक्षते ।
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं तैः प्रसिद्धैः प्रमित्सति ॥ ११ ॥

शङ्का—आत्मा नित्य, स्वयम्प्रकाश है और स्वस्वरूप होनेके कारण वह नित्य ही सन्निहित भी है। फिर जिज्ञासु पुरुषको उसका निश्चयात्मक ज्ञान होकर जिज्ञासाकी शान्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—इसलिए कि ज्ञान होनेके पूर्व जिन चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा देहादिको आत्मरूपसे देखता था, जिनको कि इस समय अनात्मरूपसे देखता है; उन्हीं प्रसिद्ध करणोंसे (इन्द्रियों से) वृत्तिके साक्षीको भी जानना चाहता है। इसी कारण स्वस्वरूप होनेपर भी आत्माको नहीं जानता ॥ ११ ॥

कस्मात्पुनर्हेतोः पराचीनाभिः शब्दाद्यवलोडिनीभिर्बुद्धिभिरात्मानमनात्मवन्न वीक्षत इति ? उच्यते—

चक्षुर्न वीक्षते [1]शब्दमतदात्मत्वकारणात् ।
यथैवं भौतिकी दृष्टिर्नात्मानं परिपश्यति ॥ १२ ॥

शङ्का—शब्दादिविषयोंको प्रकाशित करनेवाली बुद्धियोंके द्वारा शरीरादिकी तरह आत्माको यह पुरुषको क्यों नहीं जान लेता ?

समाधान—कहते हैं।

जैसे चक्षु शब्दगुणक द्रव्य (आकाश) से उत्पन्न न होनेके कारण शब्दको नहीं प्रकाशित कर सकता है ! वैसे ही भौतिक अन्तःकरणसे उत्पन्न हुआ वृत्तिरूप ज्ञान नित्य आत्माको नहीं प्रकाशित कर सकता ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणस्वाभाव्यानुरोधेन तावत्तददर्शनकारणमुक्तम् । अथ प्रमेयस्वाभाव्यानुरोधेन प्रतिषेध उच्यते—

१—शब्दाद्यवलेहिनीभिः, ऐसा भी पाठ है।

धीविक्रियासहस्राणां हानोपादानधर्मिणाम् ।
सदा साक्षिणमात्मानं प्रत्यक्त्वान्नाऽहमीक्षते[1] ॥ १३ ॥

यहाँ तक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके स्वरूपका विचार करके उन प्रमाणोंसे आत्माके प्रकाशित न होनेमें कारण बतलाया। अब प्रमेय आत्मस्वरूपके विचार करनेसे भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका निषेध करते हैं—

जो सम्पूर्ण बुद्धि- वृत्तियोंकी उत्पत्ति और विनाशका साक्षी है। उस इन्द्रियादिके अविषयभूत साक्षीको अन्तःकरण प्रकाशित नहीं कर सकता। ॥ १३ ॥

क्व पुनरियं विवेकबुद्धिः किमात्मन्युताऽनात्मनीति। किञ्चातः। यद्यात्मनि कूटस्थत्वव्याघातोऽनात्मदर्शित्वात्। अथाऽऽनात्मनि [2]तस्याऽप्यचैतन्यान्न विवेकसम्बन्ध[3] इत्युच्यते 'दाह्यदाहकतैकत्र' इत्युक्त-परिहारात्।

बुद्धावेव विवेकोऽयं यदनात्मतया भिदा।
बुद्धिमेवोपमृद्नाति कदलीं तत्फलं यथा ॥ १४ ॥

शङ्का—फिर यह विवेकबुद्धि किसको होती है? आत्माको होती है या अनात्माको? यदि कहिए कि इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? तो सुनिए—यदि आत्मा उस विवेकबुद्धिका आश्रय हो अर्थात् यदि विवेकबुद्धिरूप परिणामको आत्मामें माना जाय, तब उसकी कूटस्थताका व्याघात होगा और यदि अनात्माको विवेकबुद्धिका आश्रय मानें तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि वह जड है?

समाधान—जैसे अग्निका लोहपिण्डके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे उसमें दाह्यत्व और दाहकत्व ये दोनों धर्म एकत्रित होते हैं। उसी प्रकार अहङ्कार और आत्माके तादात्म्याध्याससे अचेतन भी अहङ्कारको ज्ञातृत्व होता है; ऐसा पहले ही प्रतिपादन किया है। इसी कारण अहङ्कारपरिणामरूप विवेकज्ञानको आत्माके ऊपर आरोपित किया जाता है। अतएव आत्माकी कूटस्थता भी नष्ट नहीं हुई और न केवल अचेतनको ज्ञानका आश्रय मानना पड़ा। अतः—

जिस (बुद्धि) की अनात्मता होनेके कारण आत्मासे भेद माना जाता है, उस बुद्धिका ही धर्म विवेक है। इसलिए जैसे कदलीफल (केला) अपनी उत्पत्तिसे अपने

१—नाहमीक्षते, ऐसा पाठ भी है।

२—तस्या अप्यचैतन्यस्य, ऐसा पाठ भी है।

३—विवेकसंभवः, ऐसा भी पाठ है।

ही आधारको—कदलीवृक्षको—नष्ट कर देता है, वैसे ही वह विवेक बुद्धिका नाशक बन जाता है ॥ १४ ॥

सोऽयमतत्त्वे तत्त्वदृक्—

अनुमानप्रदीपेन हित्वा सर्वाननात्मनः ।
संसारैकावलम्बिन्या तदभावं धियेप्सति ॥ १५ ॥

इसपर यदि ऐसी आशङ्का करो कि 'यथोक्त विवेकसे ही द्वैत प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है तो फिर वेदान्त-वाक्योंकी क्या आवश्यकता है?' तो यह ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा और अनात्माका जो भेद है वह भी अद्वैतके विपरीत होनेसे अतत्त्व ही कहाता है। अतएव विवेकबुद्धि भी भ्रान्ति ही है। इसलिए यह जो अतत्त्व (आत्मा-अनात्माका विवेक) है, उसमें तत्त्वदृष्टि रखनेवाला पुरुष अनुमानरूप प्रदीपसे सम्पूर्ण अनात्माको त्यागकर भेदरूप संसारको अवलम्बन करनेवाली विवेकबुद्धिके द्वारा उसकी भी निवृत्ति चाहता है। अतएव वाक्यार्थज्ञानके बिना संसारकी निवृत्ति नहीं होती ॥१५॥

योऽयमन्वयव्यतिरेकजो विवेक आत्माऽनात्मविभागलक्षणोऽनात्मस्थः[1] स्थाणौ संशयावबोधवत् प्रतिपत्तव्योऽयथावस्तुस्वाभाव्यान्मृगतृष्णिकोदकप्रबोधवदित्यत आह—

संसारबीजसंस्थोऽयं तद्धिया मुक्तिमिच्छति ।
शशो निमीलनेनेव[2] मृत्युं परिजिहीर्षति ॥ १६ ॥

यह जो पहले अन्वय और व्यतिरेकसे उत्पन्न हुआ, आत्मा और अनात्माके विभागको प्रकाशित करनेवाला, अनात्मामें (अन्तःकरणमें) रहनेवाला विवेक दिखलाया वह भी स्थाणुमें संशयात्मक ज्ञानके तुल्य ही है; ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि भेद आत्मस्वरूप नहीं है, अतएव मृगतृष्णाके उदकज्ञानके समान ही मिथ्या है। इसीलिए कहते हैं—

संसारके बीज अज्ञानमें ही रहकर यह विवेक बुद्धिवाला पुरुष यदि अज्ञान-कल्पित भेदबुद्धिसे ही मुक्ति चाहता है, तो वह उसका चाहना, जैसे शश (खरगोश) [बिल्ली आदिके सामने] अपनी आँखोंको मूँद लेनेसे ही मृत्युको जीतना चाहता है, ठीक उसीके समान है ॥ १६ ॥

अस्याऽर्थस्य द्रढिम्ने श्रुत्युदाहरणम्—

१—अनात्मस्थः सन्, ऐसा और स्थाणोः, ऐसा भी पाठ है।
२—दृशो निमीलनेनेव, ऐसा पाठ भी है।

इममर्थं पुरस्कृत्य श्रुत्या सम्यगुदाहृतम् ।
यच्चक्षुषेति विस्रब्धं न दृष्टेरिति च स्फुटम् ॥ १७ ॥

वाक्य-जन्य ज्ञानसे ही संसारकी निवृत्ति होती है, इस विषयको दृढ़ करनेके लिए श्रुतिके प्रमाणोंका उपन्यास करते हैं—

वाक्य ही अज्ञानका निवर्त्तक है, दूसरा नहीं। इसी बातको दृढ़ करनेके लिए श्रुतिने विस्पष्ट और निःसन्देहसे अच्छी-प्रकार यह कहा है कि "ब्रह्मरूप वस्तुको चक्षुसे नहीं देख सकते" "बुद्धिवृत्तिके साक्षीको दृश्यबुद्धिसे जाननेकी कोशिश मत करो!" ॥ १७ ॥

बुद्ध्यन्तमपविद्ध्यैवं कोन्वहं स्यामितीक्षितुः[1]।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह सर्वमानातिगामिनी ॥ १८ ॥

(यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे आत्मतत्त्व नहीं ज्ञात हो सकता, तब कैसे उसका ज्ञान होगा? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—) पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेकसे शरीरसे लेकर बुद्धिपर्यन्त अनात्म-पदार्थोंका संशोधन करके 'मैं कौन हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूपका अन्वेषण करनेवाले पुरुषको—समस्त प्रमाणोंको अतिक्रमण करके अद्वैत वस्तुका बोधन करानेवाली—श्रुति कहती है कि 'तू वही सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म है।' ॥१८॥

एष संक्षेपतः पूर्वाऽध्यायत्रयस्याऽर्थ उक्तः। सोऽयं न्याय्योऽपि वेदान्तार्थः शास्त्राचार्यप्रसादलभ्योऽप्यनपेक्षितशास्त्राचार्यप्रसादोऽनन्यापेक्षसिद्धस्वभावत्वात्कैश्चिच्छ्रद्दधानैर्न प्रतीयते। तेषां सङ्ग्रहार्थमभिमतप्रामाण्योदाहरणम्[2]।

भगवत्पूज्यपादैश्च[3] उदाहार्यैवमेव तु।
सुविस्पष्टोऽस्मदुक्तोऽर्थः सर्वभूतहितैषिभिः ॥ १९ ॥

इस प्रकार सङ्क्षेपसे पूर्वोक्त तीन अध्यायोंके अर्थका वर्णन किया। सो यह युक्तियुक्त वेदान्त-प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्मकी एकतारूप अर्थ शास्त्र एवं आचार्यके प्रसादसे प्राप्त होने योग्य होनेपर भी शास्त्र और आचार्यके प्रसादकी अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि यह निरपेक्ष 'अन्य किसीकी अपेक्षा न रखनेवाला, स्वयंसिद्धस्वरूप है। अतएव जिन श्रद्धालुओंको उसकी प्रतीति नहीं होती उनके सङ्ग्रहार्थ, जिनका

१—ईक्षितुम्, ऐसा भी पाठ है।

२—प्रामाण्योदीरणम्, ऐसा पाठ भी है।

३—चाप्युदाहारि, ऐसा पाठ भी है।

प्रामाण्य लोकमें प्रसिद्ध है, ऐसे आचार्योंके (भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीके) वाक्यका उदाहरण देते हैं—

मैंने जिस विषयको कहा है, उसीका समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाले श्रीशङ्करभगवत्पूज्यपादाचार्यजीने भी (उपदेशसाहस्रीमें) स्पष्ट रीतिसे वर्णन किया है ॥ १६ ॥

किं परमात्मन उपदेश उताऽपरमात्मन इति ? किञ्चातः ? यदि परमात्मनस्तस्योपदेशमन्तरेणैव मुक्तत्वान्निरर्थक उपदेशः। अथाऽपरमात्मनस्तस्यापि स्वत एव[1] संसारस्वभावत्वान्निष्फल उपदेशः। एवमुभयत्राऽपि दोषवत्त्वाद् । अत आह—

अविविच्योभयं वक्ति श्रुतिश्चेत्स्याद् ग्रहस्तथा ।
इति पक्षमुपादाय पूर्वपक्षं निशात्य च ॥ २० ॥

पूर्वपक्ष—क्या परमात्माको उपदेश किया है, या जीव को ? यदि कहिए कि इस प्रश्नसे क्या प्रयोजन है ? तो सुनिए—यदि परमात्माको उपदेश देते हो तो वह उपदेशके बिना ही मुक्त है, इसलिए उपदेश करना निरर्थक है। और यदि अपरमात्मा—जीव—को उपदेश होता है, ऐसा कहिए, तब तो जो स्वयमेव संसारी स्वभाववाला है, वह उस स्वभावसे कदापि छूट नहीं सकता, इस कारण उपदेश सर्वथा निष्फल होगा। इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष है।

सिद्धान्त—इसपर (पूज्यपादने जो उत्तर दिया है, उसे) कहते हैं—

अहङ्कार और आत्मा, इन दोनों का परस्पर अध्यास होकर जो एक वस्तु शबल-रूप जीवनामक व्यवस्थित है, उसीको उद्देश्य करके श्रुति यदि अभेदका उपदेश करे तो उपदेश हो सकता है। इसलिए पहले भी यह कहा है कि—'केवल अनात्मा या शुद्ध परमात्मा, इन दोनोंके लिए उपदेश नहीं हो सकता।' वही बात पूर्वपक्षका निराकरण करते हुए—'अविविक्त आत्मा और अनात्मा ही उपदेशके योग्य हैं' इस प्रकार सिद्धान्त रूपसे स्थिर करते हुए जो हमने कहा है, वही पूज्यपाद श्रीभाष्यकारने भी प्रदर्शित किया है ॥ २० ॥

तच्चेदमविवेकात्स्वतो विविक्तात्मने तत्त्वमसीत्युपदिष्टम्—
युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः ।
यतोऽनभिज्ञे वाक्यं स्याद् बधिरेष्विव गायनम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार 'ब्रह्म ही अज्ञानी हुआ, उसने अपने आपको जाना' इत्यादि बृह-

---

१—संसारि०, ऐसा भी पाठ है।

दारण्यक उपनिषद्के वाक्यकी आलोचना करके अज्ञानवश अहङ्कारादिसे अभिन्न हुआ ब्रह्म ही उपदेशका भागी होता है, यह कहा। अब यह शङ्का होती है कि आत्मा-नात्मविवेकके लिए अन्वय-व्यतिरेककी क्या आवश्यकता है? इसके निवारणार्थ कहते हैं—

जिसने स्वयमेव वाक्योंके विचार करनेके पूर्व ही अन्वय-व्यतिरेकसे देह, इन्द्रिया-दिसे आत्माको पृथक् विवेचित किया है, उसीको पूर्वोक्त जीव और ब्रह्मका ऐक्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्र उपदेश करता है, अतएव उसकी व्यर्थता नहीं है। इसपर यदि कोई कहे कि—'तब तो अन्वय और व्यतिरेकसे ही मुक्ति होती है, फिर उपदेशका क्या प्रयोजन है?' तो यह ठीक नहीं। क्योंकि—

देहेन्द्रियादिसे आत्माको पृथक् जान लेनेपर भी अज्ञान निवृत्त नहीं होता है। उसके निवारणार्थ यह उपदेश है। जो आत्मा और अनात्माके विभेदको जाननेवाला है, उसीको उपदेश करना सार्थक है। क्योंकि जिसको उसकी अभिज्ञता नहीं है, उसको उपदेश करना, बधिरोंको गायन सुनानेके तुल्य है॥ २१॥

तस्य च युष्मदस्मद्विभागविज्ञानस्य का युक्तिरुपायभावं प्रतिपद्यते। शृणु—

अन्वयव्यतिरेकौ हि पदार्थस्य पदस्य च।
स्यादेतदहमित्यत्र युक्तिरेवाऽवधारणे॥ २२॥

पूर्वोक्त आत्मा और अनात्माका विवेक कौनसी युक्तिसे होगा? इस प्रश्नका उत्तर सुनिए—

पद-पदार्थोंका अन्वय और व्यतिरेक ही, यह आत्मा है यह अनात्मा है, ऐसे पृथक् पृथक् भेदज्ञानके कारण हैं॥ २२॥

कथं तौ युक्तिरित्यत्राह—

नाद्राक्षमहमित्यस्मिन् सुषुप्तेऽन्यन्मनागपि।
न वारयति दृष्टिं स्वां प्रत्ययं तु निषेधति॥ २३॥

वे अन्वय-व्यतिरेक किस रीतिसे विवेकका उत्पादन करते हैं, इसका उत्तर आचार्यपादकी ही उक्तिसे देते हैं—

"प्रबुद्ध पुरुष निद्रित अवस्थामें—सुषुप्तिमें—'मैं अपनेसे अतिरिक्त किसीको भी नहीं जानता था, ऐसा स्मरण करता हुआ स्वस्वरूप दृष्टिका निवारण नहीं करता। क्योंकि स्मरण होनेके लिए अपेक्षित पूर्वानुभवरूपसे वहाँपर वही स्थित है। किन्तु घट, पट आदि विषयोंके ज्ञानका ही निषेध करता है। इस कारण आत्मा ही अव्यभिचारी (अबाधित)

है। अन्य दृश्यपदार्थ सब व्यभिचारी होनेके कारण बाधित हैं।" ऐसा जो निश्चय है, उसीको अन्वय-व्यतिरेक कहते हैं ॥ २३ ॥

एवं विज्ञातवाच्यार्थे श्रुतिलोकप्रसिद्धितः।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तये ॥ २४ ॥

इस प्रकार जिसने अन्वयव्यतिरेकका ज्ञान सम्पादन किया है, उस पुरुषको वेदान्त वाक्य ही पूर्वोक्त एकत्वका प्रतिपादन करता है। यह भी आचार्यपादका कहा हुआ है—"द्रष्टा दृश्यभूत दृष्टिका विषय नहीं होता" इत्यादि श्रुति और लोक प्रसिद्धिके अनुसार अनात्माका निरास करके विविक्त (शुद्ध) प्रत्यगात्माका ज्ञान होनेपर श्रुति 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे श्रोताके अज्ञानको दूर करनेके लिए ऐक्यका प्रतिपादन करती है ॥ २४ ॥

तत्र त्वमिति पदं यत्र लक्षणया वर्तते सोऽर्थ उच्यते—
अहं शब्दस्य या निष्ठा ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि।
सैवोक्ता सदसीत्येवं फलं तत्र विमुक्तता ॥ २५ ॥

अहं शब्दमें लक्षणावृत्तिके द्वारा जिस स्वप्रकाश प्रत्यगात्माका बोध करानेकी सामर्थ्य है, वही 'तत्त्वमसि, इस वाक्यका भी अर्थ है, अर्थात् त्वं पदार्थसे तत्पदके लक्ष्यार्थका कोई भेद नहीं है और दोनोंका ऐक्य होनेसे मुक्ति ही फल है ॥ २५ ॥

अन्यच्चाऽन्वयव्यतिरेकोदाहरणम्। तथा।
छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशेष्यते।
तथा शिष्टेन सर्वेण येन येन विशेष्यते ॥ २६ ॥

पूज्यपाद आचार्यने प्रकारान्तरसे अन्वय-व्यतिरेक का उदाहरण देकर जो आत्मा और अनात्माके विवेकको दिखलाया है, वह भी कहते हैं—

जैसे काटकर अलग फेंक दिये हुए हाथसे स्वयं आत्मा पहले 'यह पुरुष सुन्दर हाथ अथवा खराब हाथवाला है, ऐसा कहानेपर भी वर्तमान समयमें वैसा व्यवहृत नहीं होता। वैसे ही जो जो अवशिष्ट स्थूलदेह, श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सूक्ष्मशरीरमें रहनेवाले दुःखित्वादि धर्म हैं, उनसे पूर्वमें विशेषित होनेपर भी इस समय उनसे व्यवहार नहीं होता ॥ २६ ॥

विशेषणमिदं सर्वं साध्वलङ्करणं यथा।
[1]अविद्याध्यस्तमतः सर्वं ज्ञात आत्मन्यसद्भवेत् ॥ २७ ॥

१—अविद्यास्तमसः, ऐसा भी पाठ है।

जैसे सुवर्णादिसे बने सुन्दर अलङ्कारादि, देहके अध्यासवश देहादिसे व्यतिरिक्त आत्मामें अध्यस्त होते हैं। वैसे ही पूर्वोक्त जितने विशेषण कहे गये हैं, वे भी अविद्या वश आत्मामें कल्पित हैं। अतएव शास्त्र और गुरु की कृपासे शुद्ध आत्माके ज्ञान होनेपर वे सब असत् रूप हो जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्मात्त्यक्तेन हस्तेन तुल्यं सर्वं विशेषणम्।
अनात्मत्वेन तस्माज्ज्ञो मुक्तः सर्वविशेषणैः ॥ २८ ॥

क्योंकि पूर्वोक्त काणत्व, बधिरत्व, दुःखित्वादि विशेषण अविद्यासे ही आत्मामें कल्पित हैं, इसलिए वे छिन्नहस्तके सदृश अनात्मा ही हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष समस्त विशेषणोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २८ ॥

ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यो ज्ञेयमुत्सृज्य केवलः।
अहमित्यपि यद्ग्राह्यं व्यपेताऽङ्गसमं हि तत् ॥ २९ ॥

(सर्वदा स्थित न होनेके कारण ये विशेषण आत्माके नहीं हो सकते तो आत्मा कौनसा है, इस आशङ्काको दूर करते हैं—) जो सर्वदा न रहनेवाले समस्त विशेषणोंके भाव और अभावका साक्षीरूपसे सर्वदा स्थित है, उसीको सम्पूर्ण (ज्ञेय) विशेषणोंको परित्याग करके आत्मा समझिए और जो 'अहम्' ऐसा प्रतीत हो रहा है उसे भी सुषुप्तिमें न रहनेसे छिन्नहस्त-पादादिके समान अनात्मरूप समझना चाहिए ॥ २९ ॥

दृश्यत्वादहमित्येष नात्मधर्मो घटादिवत्।
तथाऽन्ये प्रत्यया ज्ञेया दोषाश्चात्माऽमलो ह्यतः ॥३०॥

(व्यभिचारी होनेसे ये अहङ्कारादि छिन्न हस्तपादादिके समान अनात्मरूप हैं और ये आत्मधर्म भी नहीं हैं, ऐसा कह कर दृश्य होनेके कारण भी ये आत्मा या उसके धर्म नहीं हैं, ऐसा आचार्यने कहा है—)

चूँकि यह अहङ्कार दृश्य है, अतएव घटादिके समान आत्मा या उसका धर्म नहीं है तथा और भी जो वृत्तिरूप सुख, दुःख, राग, द्वेषादि दोष हैं, वे भी दृश्य होनेके कारण आत्मरूप नहीं हैं, ऐसा समझिए। अतएव आत्मा सर्वथा विशुद्ध है ॥ ३० ॥

सर्वन्यायोपसङ्ग्रहः—

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद् भवति नाऽन्यतः।
वाक्यार्थस्याऽपि विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥३१॥

फिर भी जो पूज्यपाद आचार्योंने हमारे कहे अर्थको 'तत्त्वमसि' प्रकरणमें दिख-

लाई हुई युक्तियोंके साथ समस्त न्यायका उपसंहार करनेवाले पाँच श्लोकोंसे कहा है, उसीको कहते हैं—

मैं नित्यमुक्त हूँ, ऐसा ज्ञान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न होता है और किसी साधनके अनुष्ठानसे नहीं होता। वाक्यार्थका भी ज्ञान तत् और त्वम् पदके अर्थके स्मरणसे होता है ॥ ३१ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम् ।
एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते ॥३२॥

तत् और त्वम् पदके अर्थका स्मरण पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेकसे होता है। इस प्रकार सर्व विशेषणोंसे रहित आत्माको 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि वाक्योंसे जानता है ॥ ३२ ॥

सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत् ।
दशमस्त्वमसीत्यस्माद्यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥ ३३ ॥

'यह सारा नाम-रूपात्मक जगत् उत्पत्तिके पूर्व केवल ब्रह्म ही था, इत्यादि वाक्योंसे अवगत ब्रह्मका जब आचार्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे—'तू वही ब्रह्म है' ऐसा बोध कराता है, तब उस पुरुषको,—जैसे भ्रान्त पुरुषको 'तू दशम है' इस वाक्यसे 'मैं दशम हूँ' ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है। वैसे ही;—'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान होता है ॥३३॥

वीक्षापन्नस्योदाहरणम् ।
नवबुद्ध्यपहाराद्धि स्वात्मानं दशपूरणम् ।
अपश्यन् ज्ञातुमेवेच्छेत्स्वमात्मानं जनस्तथा ॥ ३४ ॥
अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात् कामापहतधीः[1] सदा ।
विविक्तं दृशिमात्मानं नेक्षते दशमं यथा ॥ ३५ ॥

जो हमने तीसरे अध्यायमें सन्दिग्ध पुरुषको 'मैं कौन हूँ' ऐसी जिज्ञासा होती है, ऐसा कहा और उसमें दृष्टान्तका प्रदर्शन करके दार्ष्टान्तिकको दिखलाया था, वह सब आचार्यने भी कहा है, उसीको दिखाते हैं—

जैसे, गणनामें प्रवृत्त हुआ पुरुष 'हम लोग नौ ही हैं' इस प्रकार नव संख्यामें अभिनिवेश होनेके कारण अपना दशम होना, भूलकर अपनेसे अतिरिक्त नौ आदमियोंको देखता हुआ भी भ्रान्ति से 'मैं दशम हूँ' ऐसा न जानता हुआ उसे जाननेकी इच्छा करता है। वैसे ही अविद्यासे जिसका स्वरूप आवृत्त हुआ है, ऐसा पुरुष विषयोंमें आसक्तिरूप

१—कामापहतधीः, ऐसा पाठ भी है।

कामसे विषयों की ओर खिंचकर सम्पूर्ण द्वैतोंसे सर्वदा मुक्त, सर्वसाक्षी, अपरोक्ष अपने आपको, दशमकी भाँति, नहीं जानता ॥३४,३५॥

सोऽयमेवमविद्यापटलावगुण्ठितदृष्टिः सन् कथमुत्थाप्यत इत्याह—

यथा स्वापनिमित्तेन स्वप्नदृक्प्रतिबोधितः ।
करणं कर्म कर्त्तारं स्वाप्नं नैवेक्षते स्वतः ॥ ३६ ॥
अनात्मज्ञस्तथैवाऽयं सम्यक्श्रुत्याऽवबोधितः ।
गुरुं शास्त्रं[1] तथा मूढं स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति ॥ ३७ ॥

इसपर ऐसी आशङ्का होती है कि इस प्रकार अविद्यासे स्वस्वरूपको भूले हुए पुरुषको ज्ञान होनेमें जो कारण होते हैं, वे क्या सच्चे हैं या झूठे हैं ? यदि सत्य हों तो अद्वैतसिद्धान्तका भङ्ग होता है और यदि उन्हें असत्य माना जाय, तो उनसे यथार्थ ज्ञान कैसे होगा ? इस शङ्काका परिहार दृष्टान्तके द्वारा करते हैं—

जैसे स्वप्न देखनेवाला अपनी अविद्यासे स्वप्नदशामें ही कल्पित चोर या व्याघ्रादिको देखकर डरता हुआ एकदम जाग जाता है । और स्वप्नमें अज्ञानसे कल्पित कारणको अपनेसे विलक्षण समझता है, अर्थात् सत्य नहीं मानता । वैसे ही अनादि अविद्यारूपी गाढनिद्रामें निमग्न पुरुष मोहरूपी निद्रासे ही कल्पित श्रुति, आचार्य इत्यादि कारणसामग्रीसे 'मैं परं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार प्रतिबुद्ध होकर गुरु, शास्त्र, मूढ, आचार्य आदिको अपनेसे अतिरिक्त नहीं देखता । इसलिए अद्वैतकी कोई क्षति नहीं हुई । और विद्या (यथार्थज्ञान) का उदय नहीं होगा, यह आपत्ति भी नहीं हुई, क्योंकि मिथ्याभूतसे भी यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है, यह पहले दिखलाया ही है ॥ ३६-३७ ॥

स किं सकलसंसारप्रविविक्तमात्मानं वाक्यात्प्रतिपद्यत उत नेतीति ? अत्र ब्रूमः । कूटस्थाऽवगतिमात्रशेषत्वा[2]त्प्रतिपत्तेरत आह—

दण्डावसाननिष्ठः स्याद् दण्डसर्पो यथा तथा ।
नित्याऽवगतिनिष्ठं स्याद् वाक्याज्जगदसंशयम् ॥ ३८ ॥

शङ्का—अच्छा, इस प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति हो । परन्तु इस प्रकार ब्रह्मका ज्ञान क्या प्रपञ्चसे भिन्न होता है या अभिन्न ? प्रथम पक्षको अङ्गीकार करिये तो अद्वैतका भङ्ग हो जायगा और द्वितीय पक्षके माननेसे ब्रह्ममें सप्रपञ्चता हो जायगी !

समाधान—प्रपञ्च आत्मामें अविद्यासे कल्पित है, इसलिए उससे भेद किं वा अभेद दोनों ही मिथ्या हैं । अतएव वाक्यसे जो बोध होता है, वह केवल शुद्ध चैतन्य-

१—गुरुशास्त्रं, भी पाठ है ।
२—शेषमात्रत्वात्, ऐसा पाठ भी है ।

मात्ररूपको विषय करनेवाला होता है। जैसे दण्डमें कल्पित सर्पका पर्यवसान दण्ड ही अवशेष होना है, न कि उस दण्डमें कल्पित सर्पकी सत्ता या असत्ता है। क्योंकि सर्प ही नहीं है, तो उसका अभाव भी एक पदार्थ कहाँसे रहेगा। वैसे ही जगत्का केवल ज्ञानरूप ब्रह्ममें ही पर्यवसान है ॥ ३८ ॥

कुत एतत्? यस्मात्—

पश्यन्निति यदाहोच्चैः प्रत्यक्त्वमजमव्ययम्[1] ।
अपूर्वानपरानन्तं त्वमा तदुपलक्ष्यते ॥ ३९ ॥

शङ्का—किस प्रमाणसे यह सिद्ध होता है?

समाधान—क्योंकि "सुषुप्ति अवस्थामें जो द्रष्टा किसी विषयको नहीं जानता, वह स्वयम्प्रकाशरूप होता हुआ ही नहीं प्रकाश करता है, न कि वह जडरूप है, इस कारणसे। क्योंकि द्रष्टाकी स्वरूपभूत दृष्टिका लोप नहीं होता। उस अवस्थामें उससे कोई भिन्न वस्तु ही नहीं है, किसको प्रकाशित करे?" इस प्रकार श्रुति मुक्तकण्ठसे आत्माको सुषुप्ति अवस्थामें समस्त द्वैतरहित, कूटस्थ, ज्ञानरूप बतलाती हैं। ऐसी जो उत्पत्तिरहित, द्वैतसे शून्य, कार्यकारणसे रहित और बाह्याभ्यन्तर शून्य प्रत्यक् पदार्थ है, वही 'त्वम्' पदसे लक्षित होता है ॥ ३९ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानेनैव बाध्यते। यस्मात्—

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार तत्त्वमसि इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञानसे ही अविद्याका नाश होता है। इसलिए वाक्यकी अपेक्षा है। अतएव वह व्यर्थ है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए।

अस्माद्यदपरं रूपं नास्तीत्येव निरूप्यते ।
अन्यथाग्रहणाभावाद् बीजं तत्त्वमबोधयोः ॥ ४० ॥

शङ्का—यदि अविद्याकी निवृत्ति 'तत्त्वमसि' वाक्यसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे ही होती है, तब सुषुप्ति अवस्थामें निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि श्रुतिने कैसे कही?

समाधान—सुषुप्तिमें विपरीत ज्ञानके न होनेसे द्वैतरूप जाग्रत् और स्वप्न नहीं है। अतएव वहाँ इस प्रकृत आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त स्वरूप नहीं है, यह 'न तु तद्द्वितीय' इत्यादि श्रुतिने निरूपण किया है। न कि विपरीत ज्ञानकी कारण अविद्या नहीं है, इस अभिप्रायसे। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाकी कारण जो अविद्या है, वह सुषुप्तिमें है ही, इसलिए उसकी निवृत्तिके लिए वाक्य भी सार्थक हुआ ॥ ४० ॥

अस्यार्थस्य द्रढिम्ने उदाहरणम्—

१—अजमद्वयम्, ऐसा पाठ भी है।

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु[1] द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः॥ ४१॥

पूर्वोक्त अर्थकी पुष्टिके लिए गौड़पादाचार्यके वाक्यको प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं—विश्व—जाग्रत् अवस्थाभिमानी आत्माऔर तैजस—स्वप्नावस्थाभिमानी आत्मा, ये दोनों विपरीत ज्ञान और अज्ञान, दोनोंसे बद्ध हैं। सुषुप्तिअवस्थाभिमानी प्राज्ञ तो केवल अज्ञानसे ही आवृत है। तुरीय अवस्थामें विपरीत ज्ञान और अज्ञान दोनों ही नहीं हैं॥ ४१॥

अन्यथागृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥ ४२॥

(किस समय तुरीय पदकी प्राप्ति होती है, इस बातको आचार्यने कहा है—)

विपरीत ज्ञानसे स्वप्न होता है और केवल तत्त्वके अज्ञानसे निद्रा अर्थात् सुषुप्ति होती है। इन दोनों अवस्थाओंका विपरीत ज्ञान और अज्ञानरूप विपर्यास जब तत्त्वज्ञानसे क्षीण होता है, तब तुरीय पदकी प्राप्ति होती है॥ ४२॥

तथा भगवत्पादीयमुदाहरणम्—

सुषुप्ताख्यं तमोऽज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः।
आत्मबोधप्रदग्धं स्याद् बीजं दग्धं यथाभवम्॥ ४३॥

भगवत्पूज्यपाद आचार्यने भी (उपदेश साहस्रीमें) ऐसा ही कहा है—

सुषुप्ति, तम, अज्ञान इन पर्यायवाची शब्दोंसे वाच्य जो अज्ञान (अग्रहण) स्वप्न और जाग्रत्का कारण है, वह स्वात्माके ज्ञानसे अतिशय दग्ध हो जानेपर दग्ध बीजके सदृश पुनः संसाररूप अंकुरको नहीं उत्पन्न करता॥ ४३॥

एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरयमर्थः[2] प्रभाषितः।
अज्ञानमात्रोपाधिः सन्नहमादिदृगीश्वरः॥ ४४॥

इस प्रकार हमारे पूज्य गौडपादाचार्य और द्राविड भगवत्पूज्यपादाचार्यने भी यही बात कही है कि—अज्ञानमात्र ही जिसकी उपाधि है, ऐसा परमात्मा अहङ्कारादिका साक्षी होकर जीव रूपसे स्थित होता है॥ ४४॥

तत्राऽन्यथाग्रहणवदन्यथाग्रहणबीजमग्रहणमनात्मधर्म एवेत्याह—

इदं ज्ञानमहं ज्ञाता ज्ञेयमेतदिति त्रयम्।
योऽविकारो विजानाति परागेवाऽस्य तत्तमः॥ ४५॥

१—बुद्धौ तु, ऐसा पाठ भी है।

२—पूर्वैरयं, ऐसा पाठ भी है।

मिथ्याअज्ञान जैसे अनात्माका धर्म है, वैसे ही उसका कारण अज्ञान भी अनात्माका ही धर्म है, यह कहते हैं—

ज्ञान (प्रमाण), ज्ञाता (अहङ्कार) तथा ज्ञेय इन तीनोंको जो अविकारी रहकर ही प्रकाशित करता है, उस आत्माके बाहर ही अज्ञानरूप तम रहता है, अर्थात् अज्ञान उस आत्माका स्वरूप भी नहीं हो सकता और धर्म भी नहीं हो सकता है ॥५४॥

यत एतदेवमतस्तस्यैव बीजात्मनस्तमसश्चित्तधर्मविशिष्टस्य स्वकार्यद्वितीयाभिसम्बन्धो न त्वविकारिण आत्मन इत्याह दृष्टान्तेन—

रूपप्रकाशयोर्यद्वत्सङ्गतिर्विक्रियावतोः[1] ।
सुखदुःखादिसम्बन्धश्चितस्यैवं विकारिणः ॥ ४६ ॥

चूँकि विकाररहित ही आत्मा इन पूर्वोक्त तीनोंको जानता है, अतएव चित्त परिणामोंसे विशिष्ट बीजरूप अज्ञानका ही स्वकार्यरूप द्वितीयके साथ (साक्षात्) सम्बन्ध होता है, न कि अविकारी आत्माका ? उसका सम्बन्ध तो अज्ञानोपाधिसे उत्पन्न हुए चित्तरूप उपाधिके द्वारा ही होता है, स्वभावसे नहीं ; इस बातको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

जैसे रूप और प्रकाश, ये दोनों ही विकारी हैं, अतएव उन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है। वैसे ही सुखदुःखादिसे सम्बन्ध विकारी चित्तका ही होता है आत्माका नहीं ॥ ४६ ॥

तदेतदन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयिष्यन्नाह—

सम्प्रसादेऽविकारित्वादस्तं याते विकारिणि ।
पश्यतो नात्मनः किञ्चिद्द्वितीयं स्पृशतेऽण्वपि ॥४७॥

चित्तके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही आत्माका दुःखादिके साथ सम्बन्ध होता है, उसके न रहनेसे नहीं होता। इस कही हुई बातको अन्वय-व्यतिरेकसे दिखलाते हुए कहते हैं—

जब सुषुप्ति समयमें विकारी चित्त अस्तको प्राप्त होता है, तब अविकारी और अलुप्तदृष्टि स्वरूप, प्रकाशमय आत्माके साथ किञ्चिन्मात्र भी द्वैतका स्पर्श नहीं होता ॥४७॥

सोऽयं कूटस्थज्ञानमूर्तिरात्मा—

यथा प्राज्ञे तथैवाऽयं स्वप्नजागरितान्तयोः ।
पश्यन्नप्यविकारित्वाद् द्वितीयं नैव पश्यति ॥ ४८ ॥

अतः यह कूटस्थ ज्ञानस्वरूप आत्मा जैसे सुषुप्ति अवस्थामें अविकारी

१—विक्रियावतः, ऐसा पाठ भी है ।

होनेसे देखता हुआ भी द्वितीय वस्तुको नहीं देखता। वैसे ही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थामें भी द्वैतको नहीं देखता ? ॥ ४८ ॥

एवं ज्ञानवतो नास्ति ममाऽहंमतिसंश्रयः ।
भास्वत्प्रदीपहस्तस्य ह्यन्धकार इवाऽग्रतः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार आत्मस्वरूपका ज्ञान जिस पुरुषको हो गया है उसको प्रकाशमान दीपकको हाथमें रखनेवाले पुरुषके सामने जैसे अन्धकार नहीं रह सकता। वैसे ही, अहम् मम, ऐसी बुद्धि कभी नहीं होती ॥ ४९ ॥

तत्र दृष्टान्तः—

आ प्रबोधाद्यथाऽसिद्धिर्द्वैतादन्यस्य वस्तुनः ।
बोधादेवमसिद्धत्वं बुद्ध्यादेः प्रत्यगात्मनः ॥ ५० ॥

इस विषयमें अन्य दृष्टान्त देते हैं—

जैसे जब तक बोध नहीं होता, तभी तक द्वैतसे भिन्न अर्थात् अद्वितीय वस्तुकी असिद्धि है। वैसे ही ज्ञान होनेके बाद प्रत्यगात्मा के साथ बुद्ध्यादिका सम्बन्ध भी नहीं होता ॥ ५० ॥

स एष विद्वान् हानोपादानशून्यमात्मानमात्मनि पश्यन्—

सर्वमेवाऽनुजानाति सर्वमेव निषेधति ।
भेदात्मलाभोऽनुज्ञा स्यान्निषेधोऽतत्स्वभावतः ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष जो हेय भी नहीं है और उपादेय भी नहीं है ऐसे आत्माको अपना स्वरूप समझता हुआ—

द्वैतप्रपञ्चकी अनुज्ञा भी करता है और समस्त वस्तु का निषेध भी करता है। व्यवहार दृष्टिसे द्वैतप्रपञ्चका स्वरूपलाभ ही अनुज्ञा कहाती है। तत्त्वदृष्टिसे उस प्रपञ्चका न होना ही निषेध कहाता है ॥ ५१ ॥

सर्वस्योक्तत्वादुपसंहारः—

परमार्थात्मनिष्ठं यत्सर्ववेदान्तनिश्चितम् ।
[1]तमोपनुद्धियां ज्ञानं तदेतत्कथितं मया ॥ ५२ ॥

जो कुछ कहना था, वह सब कहा गया। इसलिए अब उपसंहार करते हैं—

जो समस्त वेदान्तोंसे निश्चितरूपसे उत्पन्न हुआ अन्तःकरणके अन्धकार को निवृत्त करने वाला आत्माका तत्त्वज्ञान है, वह सब इस प्रकरणमें मैंने कह दिया है, अर्थात् इससे अतिरिक्त कुछ जीवोंके लिए ज्ञातव्य या कथनीय अवशिष्ट नहीं है ॥५२॥

१—तमोपनुद्धि यज्ज्ञानं, पाठ भी है।

एतावदिहोक्तम्—

नेहाऽऽत्मविन्मदन्योऽस्ति न मत्तोऽज्ञोऽस्ति[1] कश्चन ।
इत्यजानन् विजानाति यः स ब्रह्मविदुत्तमः ॥ ५३ ॥

[साङ्ख्यवादियोंके समान नानात्मवादकी शङ्का को निवृत्त करनेके लिए फिर भी उक्त अर्थका संग्रह करके उसे दिखाते हैं—] इस प्रकरणमें यह कहा गया है कि—

मुझसे अन्य कोई ब्रह्मवेत्ता नहीं है और मुझसे अतिरिक्त अज्ञ भी कोई नहीं है अर्थात् ज्ञान और अज्ञानका आश्रय मैं ही हूँ । इस प्रकारसे अद्वितीय आत्माको वृत्तिज्ञानसे विषय न करते हुए—केवल स्वरूप चैतन्यके द्वारा स्वप्रकाश रूपसे जो जानता है, वह पुरुष ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है ॥ ५३ ॥

एवमात्मानं ज्ञात्वा किं प्रवर्तितव्यमुत निवर्तितव्यमाहोस्विन्मुक्तप्रग्रहतेति ? उच्यते—

ज्ञेयाऽभिन्नमिदं यस्माद् ज्ञेयवस्त्वनुसार्यतः ।
न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणाऽपि वीक्षते ॥ ५४ ॥

इस प्रकार तत्त्वविचारको समाप्त करके तत्त्ववेत्ताकी (ब्रह्मवेत्ताकी) चर्याका निरूपण करते हुए विकल्प करते हैं कि "ज्ञानोत्तर कालमें ब्रह्मज्ञानीको वर्णाश्रम धर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये ? या उनसे निवृत्ति ही उचित है ? अथवा उसको स्वच्छन्द वर्त्ताव करना चाहिए ?" इसका उत्तर देते हैं—

चूँकि यह ज्ञान ज्ञेय वस्तु, जो अद्वितीय चैतन्य है, से अभिन्न है । अतएव उसी का अनुकरण करता है और चैतन्य प्रवृत्ति एवं निवृत्तिसे शून्य है । इस कारण ब्रह्मवेत्ता उसी रूपसे स्थित होता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति, किसीको कटाक्षसे भी नहीं देखता ॥ ५४ ॥

कुत एतज्ज्ञेयाऽभिन्नमिति ? यतः—

प्रागात्मबोधाद् बोधोऽयं बाह्यवस्तूपसर्जनः[2] ।
प्रध्वस्ताऽखिलसंसार आत्मैकालम्बनः श्रुतेः[3] ॥ ५५ ॥

शङ्का—ज्ञान ज्ञेयभूत चैतन्यसे अभिन्न है, इसमें क्या कारण है ?

समाधान—चूँकि आत्मज्ञान होनेके पूर्व यह ज्ञान बाह्य वस्तुको विषय करता था, इसलिए भेद था । जब कि श्रुतिके द्वारा तत्त्वज्ञानका उदय होकर

१—न मत्तोऽन्योऽस्ति, पाठ भी है ।

२—बाह्यवस्तूपसर्जनम्, पाठ भी है ।

३—आत्मैकालम्बनं श्रुतेः, ऐसा पाठ भी है ।

सम्पूर्ण संसार का नाश हो चुका, तब केवल एक आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५५ ॥

एवमवगतपरमार्थतत्त्वस्य न शेषशेषिभावस्तत्कारणस्योत्सारितत्वादित्याह—

वास्तवेनैव वृत्तेन निरुणद्धि यतो भवम् ।
निवृत्तिमपि मृद्नाति सम्यग्बोधः प्रवृत्तिवत् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार आत्मतत्त्वके यथार्थज्ञानवाले पुरुषका किसी विधिके साथ शेषशेषी भाव नहीं है । क्योंकि विधिसे प्रवृत्ति उत्पन्न होनेके लिए जो अर्थित्वादि उपेक्षित है उसका कारण अविद्या है, वह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो गई है, यह कहते हैं—

चूँकि तत्त्वज्ञान प्रवृत्ति और निवृत्तिसे शून्य आत्मवस्तुके अनुरोधसे संसारको नष्ट कर देता है । इसी कारण ज्ञानी पुरुषकी जैसे विधिसे प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही निवृत्ति भी नहीं होती । केवल वस्तु-स्वभावसे ही अमानित्वादि धर्म उसमें रहते हैं ॥ ५६ ॥

सकृदात्मप्रसूत्यैव निरुणद्ध्यखिलं भवम् ।
ध्वान्तमात्रनिरासेन न ततोऽन्यान्यथामतिः ॥ ५७ ॥

तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमात्रसे ही अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, यह अन्वय और व्यतिरेकसे ही लोकमें सिद्ध है । अतएव आत्मतत्त्वका यथार्थज्ञान अपनी उत्पत्तिसे ही उसी क्षण मिथ्याज्ञान और तज्जन्य संस्काररूप सकल जगत्को नष्ट कर डालता है । उसके लिए अभ्यास आदिकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मिथ्याज्ञान आदि अविद्याका कार्य है; इसलिए अविद्याके नष्ट होते ही सारा जगत् नष्ट हो जाता है । अतः इस अवसरमें विधिका अवकाश ही नहीं है ॥ ५७ ॥

[1]देशकालाद्यसम्बन्धाद्देशादेर्मोहकार्यतः ।
नानुत्पन्नमदग्धं वा ज्ञानमज्ञानमस्त्यतः ॥ ५८ ॥

लोकमें जो घटादिज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे तत् तत् देश और कालसे नियत अपने अपने विषयोंके अज्ञानका ही निराकरण करते हैं, न कि सकल अज्ञानका ! इसका कारण यह है कि वे समस्त ज्ञान देश, काल, अवस्थादिसे परिच्छिन्न हैं और जड़ हैं । आत्मा तो अविद्याकार्य देशकालादिके संसर्गसे रहित और स्वयम्प्रकाश है । अतएव उसमें अन्य अनिवृत्त अज्ञान या उसे निवृत्त करनेके लिए अपेक्षित अनुत्पन्न ज्ञानान्तर भी नहीं है ॥ ५८ ॥

१—देशकालाद्यसंबन्धात्, और 'देहादेः, ऐसा पाठान्तर भी है ।

सम्यग्ज्ञानशिखिप्लुष्टमोहतत्कार्यरूपिणः ।
सकृन्निवृत्तेर्बाध्यस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥ ५९ ॥

तत्त्वज्ञानरूप अग्निसे जिसका अज्ञान और उसका कार्य दग्ध हो चुका है, बाध करने योग्य सम्पूर्ण प्रपञ्च एक बार ही निवृत्त हो चुका है, उस आत्माका फिर क्या कर्तव्य अवशिष्ट है? (अतएव ऐसे पुरुषको फिर कोई विधि प्रेरित नहीं कर सकती, यह ठीक ही कहा है।) ॥ ५९ ॥

वास्तवेनैव वृत्तेनाऽविद्यायाः प्रध्वस्तत्वान्न किञ्चिदवशिष्यत इत्युक्तः परिहारः । अथाऽपरः साम्प्रदायिकः—

निवृत्तसर्पः सर्पोत्थं यथा कम्पं न मुञ्चति ।
विध्वस्ताऽखिलमोहोऽपि मोहकार्यं तथात्मवित् ॥ ६० ॥

यथार्थरीतिसे विचार करनेपर अविद्याके बिलकुल ही नष्ट हो जानेके कारण ज्ञानीका किञ्चित् भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है, ऐसा परिहार कर दिया। अब जीवन्मुक्ति पक्षको स्वीकार करके सम्प्रदायप्रसिद्ध दूसरा भी परिहार बताते हैं—

जैसे रज्जुके तत्त्वज्ञानसे सर्पभ्रान्तिकी निवृत्ति हो जानेपर भी उससे उत्पन्न हुए भय-कम्पादिसे कुछ काल तक पुरुष युक्त ही रहता है। वैसे ही आत्मज्ञानी अविद्या और उसका सम्पूर्ण कार्य बाधित होनेपर भी कुछ देर तक, प्रारब्ध फलके भोग पर्यन्त, संसार-कार्यों से युक्त रहता है ॥ ६० ॥

यतः प्रवृत्तिबीजमुच्छिन्नं तस्मात्—

तरोरुत्खातमूलस्य स्पर्शेनैव[1] यथा क्षयः ।
तथा बुद्धात्मतत्त्वस्य निवृत्त्यैव तनुक्षयः ॥ ६१ ॥

चूँकि सारे प्रवृत्तिके कारण अविद्या, काम आदि तत्त्वज्ञानसे उच्छिन्न हो जाते हैं, अतएव—

जिस वृक्षकी जड़ कट गई हो, उसका क्षय जैसे हस्तके स्पर्शसे ही हो जाता है। ऐसे ही ज्ञानीके प्रातिभासिक शरीरादिका क्षय केवल निवृत्तिसे ही हो जाता है ॥ ६१ ॥

अथालेपकपक्षनिरासार्थमाह—

बुद्धाऽद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥ ६२ ॥

यदि कोई कहे कि "तत्त्ववेत्ताकी प्रवृत्ति विधि-निमित्तक न मानी जाय तो

१—शोषेणैव, ऐसा पाठ भी है।

फिर रागद्वेषादि निमित्तसे ही माननी पड़ेगी। तब तो यथेच्छाचार करनेपर भी तत्त्वज्ञको कोई दोष नहीं प्राप्त होगा?" तो इस शंकाके निराकरणके लिए कहते हैं—

अद्वैत आत्माके यथार्थ स्वरूपको जान लेनेपर भी यदि यथेष्टाचरण होने लगे, तो फिर अशुचि पदार्थका सेवन करनेमें तत्त्वज्ञानी और कुत्ते एक सरीखे हो जाएँगे। इसलिए ऐसा नहीं माना जाता। संस्कारवशसे भी तत्त्वज्ञानीकी प्रवृत्ति मनुष्यत्व जात्युचित कर्मोंमें नहीं होती। किन्तु वर्णाश्रमधर्मोंके संस्कारवश प्रातिभासिक वर्णाश्रमोचित ही होती है! इसलिए ज्ञानीका यथेष्टाचरण कदापि नहीं हो सकता? ॥६२॥

कस्मान्न भवति? यस्मात्—

अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः।
धर्मकार्ये कथं तत्स्याद् यत्र धर्मोऽपि नेष्यते॥ ६३.॥

शङ्का—वर्णाश्रमाभिमान तो आगन्तुक है, जात्यभिमान स्वाभाविक है। इसलिए संस्कारके बलसे मनुष्यत्व जात्युचित ही प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—इसलिए कि जन्म जन्मान्तरमें किये हुए अधर्मसे (पापोंसे) अज्ञान अर्थात् अभक्ष्य-भक्षणादिमें कर्तव्यताबुद्धि होती है, अज्ञानसे फिर यथेष्टाचरण होता है। तत्त्वज्ञान तो अनेक जन्मोंमें किए सुकृतोंसे होता है, धर्मसे ही सुख और ज्ञान होता है। तो फिर जिसके (ज्ञानके) होनेसे कामादि दोषोंका अत्यन्त उच्छेद हो जानेके कारण धर्माचरणमें भी प्रवृत्ति नहीं होती। भला, उस ज्ञानके उदय होनेपर यथेष्टाचरण कैसे हो सकेगा? (अर्थात् तत्त्ववेत्ताके तो अतीत अनेक जन्मोंमें भी यथेष्टाचरणकी वार्ता तक नहीं है। अतएव उसके संस्कार भी नहीं हैं, इसलिए उसका यथेष्टाचरण नहीं हो सकता!) ॥ ६३ ॥

प्रत्याचक्षाण आहाऽतो यथेष्टाचरणं हरिः।
यस्य सर्वे समारम्भाः प्रकाशं चेति सर्वदृक्[1] ॥ ६४ ॥

इसीलिए भगवान्ने गीतामें ज्ञानीके यथेष्टाचरणका खण्डन करनेके लिए ज्ञानीका लक्षण ऐसा बतलाया है कि—"जिसके सब कार्य काम संकल्पसे वर्जित होते हैं," "जो सत्त्व, रज और तमोगुणके कार्यों—प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह—में आसक्ति या द्वेष नहीं करता वह गुणातीत कहाता है।" ॥ ६४ ॥

तिष्ठतु तावत् सर्वप्रवृत्तिबीजघस्मरं ज्ञानं, मुमुक्ष्ववस्थायामपि न सम्भवति यथेष्टाचरणम्। तदाह—

१—सत्यदृक्, ऐसा पाठ भी है।

योो हि यत्र विरक्तः स्यान्नाऽसौ तस्मै प्रवर्तते[1] ।
लोकत्रयविरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥ ६५ ॥

अस्तु, तत्वज्ञान तो समस्त प्रवृत्तिके बीजको ही भस्म कर देता है, इसलिए उसकी तो बात रहे। जब कि मुमुक्षु अवस्थामें भी यथेष्टाचरण नहीं हो सकता, तब ज्ञान होनेपर कैसे होगा ? क्योंकि जो जिस विषयमें विरक्त है, वह उसके साधनमें प्रवृत्त नहीं होता। मुमुक्षु तो लोकत्रयसे विरक्त है, तब वह उसमें क्यों प्रवृत्त होगा ? अर्थात् मुमुक्षु भी जिस विषयमें चेष्टा नहीं करता है, उसमें मुक्त पुरुष चेष्टा नहीं करता, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ६५ ॥

तत्र दृष्टान्तः—

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
[2]मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नाऽमूढस्तज्जिघृक्षति ॥६६॥

इस विषयमें दृष्टान्त देते हैं—

जैसे क्षुधासे पीड़ित भी मनुष्य उसे शान्त करने के लिए विष नहीं खाना चाहता तो फिर जब मिष्टान्नके भक्षण करनेसे क्षुधा निवृत्त हो चुकी, तब भला वह विष खानेमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? वैसे ही मुमुक्षुदशामें वर्तमान यह पुरुष ऐहिक और पारलौकिक सुखोंसे विरक्त होकर जब उनके साधनोंमें नहीं प्रवृत्त हुआ, तब फिर ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेके बाद वह विषयसुखोंमें प्रवृत्त होगा, यह बात सम्भावित भी नहीं हो सकती ? ॥ ६६ ॥

यतोऽवगतपरमार्थतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं न मनागपि घटते मुमुक्षुत्वेऽपि च तस्मात् —

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याऽग्निः कोटरे तरोः ॥ ६७ ॥

क्योंकि परमार्थ तत्त्वके ज्ञाता (तत्त्ववेत्ता) का एवं मुमुक्षु अवस्था में वर्तमान पुरुष का भी किञ्चिन्मात्र भी यथेष्टाचरण नहीं हो सकता, इसलिए—

चित्तकी स्वतःप्रवृत्तिके आलम्बनभूत—शब्दादिविषयोंमें जो अनुराग होता है उसको अज्ञानका चिह्न समझना चाहिए, क्योंकि जिस वृक्षके कोटरमें अग्निका निवास रहता है, उसमें हरियाली कैसे आ सकती है ? ॥ ६७ ॥

१— तत्र प्रवर्तते, ऐसा पाठ भी है ।

२—मृष्टान्नं, ऐसा पाठ भी है

सकलपुरुषार्थसमाप्तिकारिणोऽस्याऽऽत्मावबोधस्य कुतः प्रसूतिरिति। उच्यते—

अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाऽद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानमुत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः॥ ६८॥

समस्त पुरुषार्थ को समाप्त करने (मनुष्यको कृतकृत्य कर देने) वाला यह आत्मज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह बात कहते हैं—

जो पुरुष गीतोक्त 'अमानित्व आदि गुणों से युक्त' तथा 'अद्वेष्टृत्व आदि साधनोंसे सम्पन्न है, उसे यह ज्ञान होता है। जो बहिर्मुख है उसको नहीं होता॥ ६७॥

उत्पन्न आत्मविज्ञाने किमविद्याकार्यत्वात् प्रवृत्तिवन्निवृत्त्यात्मकाऽमानित्वादयो निवर्त्तन्ते उत नेति। नेति ब्रूमः। किं कारणम्? निवृत्तिशास्त्राऽविरुद्धस्वाभाव्यात्परमात्मनो न तु नियोगवशात्। कथं तर्हि। शृणु—

उत्पन्नाऽऽत्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥ ६९॥

शङ्का—अच्छा, आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेपर अविद्याके निवृत्त हो जाने से उसका कार्य प्रवृत्ति जैसे नहीं होती, वैसे ही निवृत्तिरूप अमानित्वादि गुण भी निवृत्त हो जाते हैं या नहीं निवृत्त होते?

समाधान—नहीं निवृत्त होते, क्योंकि आत्माका स्वभाव निवृत्तिशास्त्रके अनुकूल है, अतएव उसमें अमानित्वादि गुण विधिके वशसे नहीं रहते। तब कैसे रहते हैं? यह सुनिए—

आत्मतत्त्वके ज्ञातामें अद्वेष्टृत्वादि गुण प्रयत्नके ही बिना सिद्ध रहते हैं। साधन अवस्थामें जैसे प्रयत्नसे उनका सम्पादन करना पड़ता है, सिद्धावस्थामें वैसे नहीं॥ ६९॥

यत एतदेवमतः—

इमं ग्रन्थमुपादित्सुरमानित्वादिसाधनः।
यत्नतः स्यान्न दुर्वृत्तः प्रत्यग्धर्मानुगो ह्ययम्॥ ७०॥

जब साधकके साधनरूपसे और सिद्धके सिद्धरूपसे ये अमानित्वादि लक्षण हैं अतएव—

इस ग्रन्थको ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष भी यत्नपूर्वक अमानित्वादि

साधनोंका सम्पादन करे, दुराचरण कदापि न करे। क्योंकि यह ग्रन्थ आत्मस्वरूपका अनुकरण करनेवाला है ॥ ७० ॥

न दातव्यश्चायं ग्रन्थः—

नाऽविरक्ताय संसारान्नाऽनिरस्तैषणाय च ।
न चाऽयमवते देयं वेदान्तार्थप्रवेशनम् ॥ ७१ ॥

गुरुजनों को भी इस ग्रन्थका अध्यापन ऐसे पुरुषको नहीं कराना चाहिए जो कि संसारसे विरक्त न हुआ हो, जिसकी इच्छाएँ निवृत्त न हुई हों और जो अहिंसा आदि यमोंसे सम्पन्न न हो उसको भी वेदान्तप्रतिपाद्य विषयमें चित्तको प्रवेश करानेवाला यह ग्रन्थ नहीं पढ़ाना चाहिए ॥ ७१ ॥

ज्ञात्वा यथोदितं सम्यग्ज्ञातव्यं नाऽवशिष्यते ।
न चाऽनिरस्तकर्मेदं जानीयादञ्जसा ततः ॥ ७२ ॥

इस ग्रन्थमें जैसा प्रतिपादन किया है, वैसा जान लेनेसे फिर कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता। और जिसने सर्व कर्मोंका संन्यास नहीं किया है, वह अनायाससे इस ग्रन्थके मर्मको नहीं समझ सकता। अतएव ॥ ७२ ॥

[1]निरस्तसर्वकर्माणः प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः ।
निष्कामा यतयः शान्ता जानन्तीदं यथोदितम् ॥ ७३ ॥

जिन्होंने (विधिपूर्वक) सर्व कर्मोंका संन्यास किया हो, जिनकी बुद्धि (एकमात्र) आत्माकी ओर लगी हो, तथा जिनके अन्तःकरणके धर्म—कामादि दोष—दूर हुए हों, जिनका मन विक्षिप्त न हो वे विरक्त शान्त पुरुष ही इस ग्रन्थके यथोक्त मर्मको अच्छे प्रकारसे समझ सकेंगे ॥ ७३ ॥

श्रीमच्छङ्करपादपद्मयुगलं संसेव्य लब्ध्वोचिवान्
ज्ञानं पारमहंस्यमेतदमलं स्वान्तान्धकारापनुत् ।
माभूदत्र विरोधिनी मतिरतः सद्भिः परीक्ष्यं बुधैः
सर्वत्रैव विशुद्धये मतमिदं सन्तः परं कारणम् ॥ ७४ ॥

मैंने श्रीमत्पूज्यपाद भगवान् श्रीशङ्कराचार्य गुरुवर्यके चरणारविन्दकी निष्कपट सेवा करके हृदयके अन्धकारको दूर करनेवाला, निर्मल परमहंसरूपताको देनेवाला जो ज्ञान प्राप्त किया, उसीको इस ग्रन्थ रूपसे प्रतिपादन किया है। इसलिए इस ग्रन्थपर कोई भी पुरुष दोषदृष्टि न करें। किन्तु महात्मा लोग प्रयत्नसे इसकी परीक्षा करें। क्योंकि महात्मा पण्डितजन ही गुण अथवा दोषोंको सिद्ध करनेमें प्रमाण हैं ॥ ७४ ॥

१—निरस्य सर्वकर्माणि, ऐसा भी पाठ है।

सुभाषितं चार्वपि नाऽमहात्मनां
दिवाकरो नक्तदृशामिवाऽमलः ।
प्रभाति भात्येव विशुद्धचेतसां
निधिर्यथाऽपास्ततृषां महाधनः ॥ ७५ ॥

अत्यन्त सुन्दर भी कथन क्यों न हो, तथापि जो महात्मा नहीं हैं उनको वह अच्छा नहीं मालूम पड़ता। जैसे कि दिवान्धोंको (उल्लुओंको) निर्मल प्रकाशमान भी सूर्य नहीं दीख पड़ता। परन्तु जिनके अन्तःकरण स्वच्छ हैं, उनको इसका ज्ञान होता ही है। जैसे कि तृष्णाका परित्याग किए हुए विरक्त महापुरुषोंको बड़ी-बड़ी निधियाँ दीख पड़ती हैं ॥ ७५ ॥

विष्णोः पादानुगां यां निखिलभवनुदं शङ्करोऽवाप योगात्
सर्वज्ञं ब्रह्मसंस्थं मुनिगणसहितं सम्यगभ्यर्च्य भक्त्या ।
विद्यां गङ्गामिवाऽहं प्रवरगुणनिधेः प्राप्य वेदान्तदीप्तां
कारुण्यात्तामवोचं जनिमृतिनिवहध्वस्तये दुःखितेभ्यः ॥७६॥

जिस प्रकार सर्वव्यापक भगवान् विष्णुके पादपद्मसे विनिःसृत एवं संसारके समस्त दुःखोंको मिटा देनेवाली जिस गङ्गाको भगवान् श्रीशङ्करने अपने योगके प्रभावसे प्राप्त किया, तत्पश्चात् उसी (गङ्गा) को महाराज भगीरथने, मुनिगण सहित उन सर्वज्ञ, परब्रह्मस्वरूप भगवान् शङ्करका भक्तिपूर्वक आराधन करके उनसे प्राप्त कर करुणावश लोककल्याणार्थ उसे संसारमें प्रकट किया। इसी प्रकार—जगत्कारण परमात्माके अधिष्ठान सच्चिदानन्द ब्रह्मका अनुभव करनेवाली तथा (गङ्गाजीके समान) सम्पूर्ण सांसारिक दुःखोंको दूर कर देनेवाली जिस ब्रह्मविद्याको अपने योगसामर्थ्यसे आचार्य शङ्करने प्राप्त किया। उसी वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मविद्याको उन सर्वज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ, मुनिगणके सहित आचार्य शङ्करका भक्तिपूर्वक पूजन करके उनसे प्राप्त करके करुणावश संसारके दुःखोंसे दुःखित हुए लोगोंके जन्ममरणरूपी महादुःखको मिटानेके लिए मैंने उसका इस ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है ॥ ७६ ॥

वेदान्तोदरवर्तिभास्वदमलं ध्वान्तच्छिदस्मद्धियो
दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियेऽपि विषये व्याहन्यते न क्वचित् ।
यो नो न्यायशलाकयैव निखिलं संसारबीजं तमः
प्रोत्सार्याऽऽविरकारषीद् गुरुगुरुः पूज्याय तस्मै नमः ॥७७॥

जो (ज्ञान) वेदान्त शास्त्रके अन्दर अत्यन्त गूढ़ है, जो सबका प्रकाशक एवं

अतीव निर्मल, विशुद्ध सत्यरूप है, जो हम लोगोंकी बुद्धिके आवरक अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करनेवाला है तथा जो अतीन्द्रिय है, किसी विषयमें भी प्रतिहत नहीं होता अर्थात् जो समस्त वस्तुओंका ज्ञान कराता है, ऐसा दिव्य ज्ञान सम्पूर्ण संसारके बीज अज्ञानको दूर हटाकर जिस सद्गुरुने न्यायरूपी शलाकासे हमारे हृदयमें प्रकट किया, उस जगद्वन्दनीय गुरुओंके गुरु आचार्य श्रीशङ्करको हमारा प्रणाम है ॥ ७७ ॥

सम्बन्धोक्तिरियं साध्वी प्रतिश्लोकमुदाहृता।
नैष्कर्म्यसिद्धेर्ज्ञात्वेमां व्याख्याताऽसौ[1] भवेद् ध्रुवम् ॥७८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करपूज्यपादशिष्य-श्रीसुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ

चतुर्थोऽध्यायः

नैष्कर्म्य-सिद्धिके प्रत्येक श्लोककी यह सङ्गति मैंने कही है, जो इसको अच्छे प्रकारसे समझ लेगा, वह अवश्य इस ग्रन्थका व्याख्यान कर सकता है ॥ ७८ ॥

धर्मशास्त्राचार्य पण्डित श्रीप्रेमवल्लभत्रिपाठिशास्त्रिविरचित
नैष्कर्म्यसिद्धिके भाषानुवादमें
चतुर्थ अध्याय समाप्त

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

१—व्याख्यातास्य, ऐसा भी पाठ है।

नैष्कर्म्यसिद्धिश्लोकानुक्रमणिका